RESEARCH REVIEW JOURNALS
Volume-04
Issue-02
February-2019

ISSN: 2455-3085 (Online)
RESEARCH REVIEW International Journal of Multidisciplinary
www.rrjournals.com[UGC Listed Journal]

थेरवादी बौद्ध मत में प्रतिपादित प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत

Dr Ranjana Rani Singhal

Associate professor, Buddhist Studies, Satyawati College (Eve), University of Delhi, Delhi-110052 (India)

प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत बौद्ध धर्म के मूल सिद्धांतों में से एक है। बुद्ध ने इसका साक्षात्कार सम्यक् संबोधि प्राप्त करते समय किया था। कार्य कारण का यह महत्त्वपूर्ण नियम बुद्ध की अपनी खोज है। संबोधि प्राप्ति के समय भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम चार आर्यसत्यों, अष्टांगिक मार्ग, व प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार किया था, तभी बुद्ध ने सोचा था कि साधारणजन के लिए प्रतीत्य समुत्पाद जैसा गंभीर सिद्धांत समझना आसान नहीं है। अतः भगवान् बुद्ध पहले लोगों को इसका उपदेश देने से हिचकिचाते थे। 'दीघनिकाय' में भगवान् बुद्ध का इस विषय में कथन है। कि– आनन्द यह प्रतीत्यसमुत्पाद गंभीर है। तथा इस गंभीर सा प्रतीत होने वाले इस धर्म को न जानने से यह प्रजा उलझे सूत सी गांठ पड़ी रस्सी सी, अपाय दुर्गति को प्राप्त हो, संसार से पार नहीं हो सकती। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ प्रायः सापेक्ष कारणतावाद है। यद्यपि बुद्ध कार्यकारण के अविच्छिन्न प्रवाह को नहीं मानते फिर भी वे मानते हैं कि एक के होने पर दूसरे की उत्पत्ति होती है। बौद्ध धर्म में प्रत्यय का अर्थ हेतु है तथा प्रतीत्य समुत्पाद अविच्छिन्न प्रवाह को दर्शाता है। आगे चलकर नागार्जुन का शून्यवाद यहीं से विकसित हुआ है।

प्रतीत्य समुत्पाद या कार्यकारणवाद का सिद्धांत ऐसा माननीय सिद्धांत है। जो बौद्ध दर्शन की आधार पीठ कहलाती है। प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है। (सापेक्ष कारणतावाद)। प्रतीत्य (प्रति+इ गतो+लय्य् प्रत्यय) अर्थात् किसी वस्तु की उत्पत्ति होने पर समुत्पाद (सम्+उत्पाद) अर्थात् अन्य वस्तु की उत्पत्ति दूसरे शब्दों में किसी वस्तु की उत्पत्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति। इसलिये प्रतीत्य समुत्पाद को कार्य कारण का सिद्धांत कहते हैं। इसके होने से यह होता है और इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है तथा इसके नहीं होने से यह नहीं होता है और इसके रूक जाने से यह रूक जाता है। इसे जानना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। कार्यकारण से ओघ निस्तरण सिखाना ही प्रतीत्य समुत्पाद है। यहाँ ओघ निस्तरण संसार बाढ़ को पार करना है। इसलिए कहा गया है कि जो प्रत्यय समूह प्रत्यय सामग्री की अपेक्षा करके सम एवं साथ प्रत्योत्पन्न धर्मों का उत्पाद वस्तुओं या घटनाओं में सर्वत्र यह कार्य कारण का नियम जागरूक है। एक वस्तु के रहने पर दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है। वस्तु की उत्पत्ति बिना किसी कारण के नहीं होती। कार्य कारण का यह महत्त्वपूर्ण नियम बुद्ध की अपनी खोज है। इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ एक के होने पर दूसरे का होना, उत्पत्ति प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम है, में कार्य कारण भाव के नियम का पूरा अनुकरण है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद कार्य कारण सिद्धांत को ही कहा जाता है। यह सिद्धांत प्राचीन बौद्धों का अपना सिद्धांत है। एक वस्तु के नष्ट होने के पश्चात् ही अन्य वस्तु अपने अस्तित्त्व में दिखाई देती है। जैसे मृत्पिंड के नष्ट होने पर ही घर अपने अस्तित्त्व में आता है। इस स्थिति में यह कहना ठीक नहीं कि घर की मृत्पिंड से ही उत्पत्ति हुई है। इस स्थिति में घर का मिट्टी को कारण क्यों माना जाय? उत्पाद उत्पादन भाव के अभाव में कार्य कारण भाव का नियम क्या होगा? इस प्रश्न का उत्तर बौद्ध सिद्धांत में प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा किया गया है। इस सिद्धांत के अनुसार एक वस्तु दूसरी वस्तु से उत्पन्न ही होती तथापि अन्य वस्तु की अपेक्षा रखती है। मिट्टी थी, अतः घर है। इसी सापेक्ष कार्य कारण का सिद्धांत प्रतीत्यसमुत्पाद है। यह सिद्धांत बौद्धों की अपनी विशेषता है। इसीलिये प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्य कारण का सिद्धांत कहते हैं। इसके होने से यह होता है और इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है तथा इसके नहीं होने से यह नहीं होता है और इसके रूक जाने से यह रूक जाता है। इसे जानना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है।

प्रतीत्य समुत्पाद बौद्ध धर्म दर्शन की आधारशिला है। चार आर्य सत्य में प्रतीत्य समुत्पाद 'समुदय सत्य' के अंतर्गत आ जाता है। इसका एक मात्र कारण है कि दुःख का समुदय कैसे होता है। यही प्रतीत्य समुत्पाद बतलाता है। रात्रि के प्रथम याम में बोधिवृक्ष के नीचे बुद्ध ने जब प्रथम बार संबोधि प्राप्त की थी। तब उन्होंने प्रतीत्यसमुत्पाद का अनुलोम और प्रतिलोम रूप से साक्षात्कार किया था। दुःख समुदाय में अविद्या तृष्णा और संस्कार (कर्म) आ जाते हैं। किन्तु इसका स्वरूप क्या है? यही प्रतीत्य समुत्पाद दर्शाता है।

शाब्दिक अर्थ– प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ इस प्रकार किया गया है। प्रतीत्य+समुत्पाद = प्रतीत्य समुत्पाद

अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है 'सापेक्ष कारणवाद' अर्थात् प्रतीत्य समुत्पाद शब्द प्रतिपूर्वक 'इण' धातु से ल्यय प्रत्यय करके और सम् उत् पूर्वक 'पद' धातु से 'घ' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ प्रत्यय को प्राप्त कर प्रादुर्भाव होता है। प्रतीत्य (प्रति+गतौ+लय्य्) अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर, यहाँ 'प्रति' का अर्थ है 'प्राप्ति, 'इण (इर धातु गत्यर्थक है, किन्तु उपसर्ग धातु के अर्थ को बदलता है। इसलिए 'प्रति+इ' का अर्थ 'प्राप्ति' है और 'प्रतीत्य' का अर्थ प्राप्त कर है।

समुत्पाद (सम+उत्पाद) से निष्पन्न है। यहाँ सम तथा सह के अर्थ में प्रयुक्त है। 'सम' का अभिप्राय है। अविद्या द्वारा संस्कार उत्पन्न करते समय अविद्या मात्र संस्कार का ही उत्पाद नहीं करती अपितु संस्कार के साथ–साथ उत्पन्न चित्त एवं चैतसिकों का सम्पूर्ण और समरूप से उत्पाद करती है। सह का अर्थ है। युगपत् उत्पाद पृथक–पृथक नहीं। यहाँ अविद्या द्वारा संस्कार के उत्पादन में संस्कार के साथ चित्त, चैतसिक धर्मों का भी युगपद् उत्पाद किया जाता है। अर्थात् किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर अन्य वस्तु की उत्पत्ति सम्बन्धी ज्ञान।

यहाँ 'पद' धातु सत्तार्थक है। 'सम+उत्' उपसर्ग पूर्वक इसका अर्थ प्रादुर्भाव है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है– प्राप्त होकर प्रादुर्भाव है। प्रत्ययों का प्रतिगमन कर उसका उत्पाद होता है। इसी परिभाषा में यह भी सम्मिलित है कि इसके न होने से यह नहीं होता इसके निरोध से यह निरुद्ध हो जाता है।

अर्थात् प्रतीत्य समुत्पाद शब्द प्रतिपूर्वक 'इण' धातु से 'ल्यय्' प्रत्यय करके और सम् उत् पूर्वक 'पद' धातु से 'ध' प्रत्यय करके निष्पन्न हुआ है। जिसका अर्थ प्रत्यय को प्राप्त कर प्रादुर्भाव होता है।

यहाँ प्रत्यय का अर्थ है कारण। जो सापेक्ष होता है निरपेक्ष नहीं। इसलिये प्रतीत्य समुत्पाद को सापेक्ष कारणतावाद कहा गया है। अतः प्रत्यय का अर्थ है सापेक्ष कारण यह निरपेक्ष नहीं हो सकता जैसे उत्पत्ति का निरोध और निरोध को उत्पत्ति की अपेक्षा होती है। अतः दोनों में अनुनाश्रय का सम्बन्ध है। इसलिये कहा

RRIJM 2015, All Rights Reserved

गया है कि हेतु प्रत्यय जनित है। हेतु का अर्थ लोभ, द्वेष, मोह है। लोभ, द्वेष व मोह के कारण व्यक्ति कुशल व अकुशल कर्म करने की ओर प्रवृत्त होता है। कुशल, अकुशल कर्मों के द्वारा ही जन्म ग्रहण होता है। अतः प्रत्येक कार्य बिना कारण के नहीं हो सकता है तथा कारण के नाश के बिना कार्य का अन्त नहीं हो सकता। प्रतीत्य समुत्पाद के 12 अंगों को जानकर दुःख के कारण को जानना व उनके नाश का उपाय ढूंढना चाहिये। इस प्रकार जो धर्म जिसकी उत्पत्ति में या निर्वृत्ति में उपकारण होता है। वह उसका प्रत्यय कहलाती है। इस प्रकार कर्म क्लेश प्रत्ययवश उत्पत्ति, उत्पत्तिवश कर्म क्लेश पुनः अन्य कर्म क्लेश प्रत्यय वश उत्पत्ति। इस प्रकार भव चक्र को अनादि माना गया है। यह स्कन्ध सन्तत्ति तीन भवों में वृद्धि को प्राप्त होती है। यह प्रतीत्यसमुत्पाद है। जिसमें 12 अंग व 3 काल हैं।

प्रतीत्य समुत्पाद में प्रत्यय शब्द अत्यन्त सार्थक है। अतः प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ मात्र उत्पत्ति नहीं है 'न उप्पादमत्तों पटिच्च समुपादो'। केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान प्रतीत्यसमुत्पाद नहीं है। प्रत्येक उत्पाद (उत्पत्ति) का कोई प्रत्यय (कारण) अथवा हेतु है। यही प्रतीत्य समुत्पाद का अर्थ है। जिसके होने से जो अन्य वस्तु हो, तो वह प्रथम वस्तु उस दूसरी वस्तु का प्रत्यय कहलाती है। अथवा जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु का अनिवार्य रूप से आश्रय देकर अवस्थित होती है। या उत्पन्न होती है। तो वह दूसरी वस्तु प्रथम वस्तु का प्रत्यय कहलाती है। उपकारक या सहायक होना ही प्रत्यय होने का लक्षण है। अतः जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या सहायक होना ही प्रत्यय होने का लक्षण है। अतः जो वस्तु किसी दूसरी वस्तु की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक हो, तो वह उसका प्रत्यय कहलाती है, अर्थात जो प्रत्यय समूह प्रत्यय सामग्री की अपेक्षा करके सम और साथ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उत्पाद करता है। वह प्रत्यय समूह प्रतीत्य समुत्पाद है। इसलिये प्रत्यय सामग्री के हेतु से ही, उसके बिना नहीं, जो धर्मों (पदार्थों) का स्थिति में आना है, वह प्रतीत्य समुत्पाद है। उत्पत्ति न स्वतः होती है और न बिना हेतुओं के ही, बल्कि वह प्रत्ययों के आश्रय से ही या उनके साथ ही होती है। यही प्रतीत्य समुत्पाद् सम्बन्धी सिद्धांत का प्रस्थान बिन्दु है। प्रत्यय शब्द यहाँ हेतु, कारण, निदान, समुदाय और उद्पात आदि शब्द इस अर्थ में ही प्रयुक्त है। सम्बोधि को प्राप्त करने के समय ही भगवान् बुद्ध को इस महान सत्य का साक्षात्कार हुआ था। अभिसम्बोधि प्राप्त करते हुए बुद्ध ने रात्रि के अंतिम याम में प्रतीत्य समुत्पाद का साक्षात्कार किया था। प्रतीत्य समुत्पाद का चिन्तन ही उस पूर्ण ज्ञानी पुरुष का सर्वप्रथम ध्यान (विहार) था। अतः भगवान् बुद्ध का प्रथम चिन्तन प्रतीत्य समुत्पाद ही था और इसका अनुचिंतन उन्होंने अनुलोम तथा प्रतिलोम विधि से किया था। प्रतीत्य समुत्पाद का सिद्धांत अत्यन्त गहन तथा गम्भीर है। जैसा कि स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा था। प्रतीत्य समुत्पाद के अज्ञान के कारण ही वर्तमान भव में मनुष्य संसरित होता है तथा अनेक कष्टों से आपन्न हो दुर्गति को प्राप्त होता है। वास्तव में कारणवाद सम्बन्धी ज्ञान ही भगवान् बुद्ध के सम्पूर्ण मन्तव्य का विश्लेषण है। बौद्ध दार्शनिक भाषा में कहें तो ''हेतु का ज्ञान ही धर्म प्रतिसंभिंदा है'' हेतु ही धर्म है। वस्तुतः हेतु की अभिज्ञा ही धर्म प्रतिसंभिंदा है। हेतु ही धर्म है हेतु और धर्म की एकात्मकता के व्याकरण में भगवान् बुद्ध ने कहा है– जो कोई प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह धर्म को देखता है, और जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्य समुत्पाद हो देखता है। वस्तुतः धर्म प्रतीत्य समुत्पाद ही है। कहने का तात्पर्य यह है कि धर्मविद् ही प्रतीत्य समुत्पाद के गहन् दर्शन का बोधक हो सकता है और प्रतीत्य समुत्पाद का ज्ञाता ही धर्म का यथाभूत ज्ञाता हो सकता है। दोनों में पारस्परिक सम्बन्ध था।

पालि परम्परा में प्रतीत्यसमुत्पाद

1. बुद्ध ने कहा है–'अस्मिन् सति इंद भवति। अर्थात इस चीज के होने पर यह चीज होती है। उदाहरण के लिये एक वृक्ष की उत्पत्ति बीज के कारण होती है। जिसमें बीज उस वृक्ष का हेतु होता है और वृक्ष उस बीज का प्रत्यय होता है। संक्षेप में इस प्रकार किसी वस्तु के कारण ही किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति होती है। यह प्रत्ययों से उत्पत्ति का नियम है। भगवान् ने अविद्या से प्रारम्भ कर जरामरण पर्यन्त प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना की है।

भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्य समुत्पाद की देशना भी की है। जैसे इसके होने पर यह होता है और इसके न होने पर यह नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि अविद्यादि के होने पर संस्कार आदि होते हैं, और संस्कार के होने पर विज्ञान होता है, न होने पर नहीं होते। अर्थात् एक अंग के होने पर दूसरा अंग होता है। अर्थात् पूर्वभव के होने पर प्रत्युत्पन्नभव होता है और प्रत्युत्पन्नभव के होने पर अनागत भव होता है, ऐसे जन्म परम्परा सिद्ध होती है।

2. आचार्य अनुरुद्ध– 'अभिधम्मत्थसंग्गहो' में प्रतीत्यसमुत्पाद की एक विशेष व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि जो प्रत्यय समूह प्रत्यय सामग्री की अपेक्षा करके साथ–साथ प्रत्ययोत्पन्न धर्मों का उत्पाद करता है। वह प्रत्यय समूह ही प्रतीत्य समुत्पाद है। प्रत्यय समूह प्रत्यय धर्मों को उत्पन्न करते हैं। अविद्या से केवल संस्कार मात्र ही उत्पन्न नहीं होते बल्कि संस्कार के साथ–साथ अन्य चैतसिकों का भी समान रूप से युगपत् उत्पाद होता है।

3. आचार्य बुद्धघोष–'विसुद्धिमग्ग में प्रतीत्यसमुत्पाद के अनेक अर्थों को लेकर स्पष्ट समझाते हैं कि

1. प्रत्ययता से प्रवृत यह धर्म समूह है। यह प्रत्यय (पटिच्च) जानने योग्य है। एक साथ सम्यक् उत्पाद होता है, पृथक–पृथक नहीं और न निर्हेतुक ही। जो 'पटिच्च' और 'समुत्पाद' है। वही 'प्रतीत्यसमुम्त्पाद' है।

2. सहोत्पाद 'समुत्पाद' है। 'प्रत्यय' सामग्री वश होता है। जैसे– ''बुद्धों का उत्पाद सुख है। तब अभिप्राय है कि उत्पाद सुख का हेतु है। वैसे ही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' फलोपचार से यहाँ कहा गया है।

3. यह 'हेतु समूह है, जो संस्कारादि के प्रादुर्भाव के लिए अविद्यादि एक–एक हेतु निर्दिष्ट है, वह साधारण फल की निष्पत्ति हेतु प्रत्यय सामग्री के अंगो के अन्योन्य 'प्रतिमुख' है। अतः वह 'पटिच्च' है और 'समुत्पाद' भी है। क्योंकि वह अकेला उत्पन्न न होने से युगपत् पारस्परिक स्वभाव वाले धर्मों अविनिर्भोगवृति धर्म को ही उत्पन्न करता है तथा साथ ही उत्पन्न होता है।

इस प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद शब्द का अर्थ बुद्धघोष एक सूत्र में यों ज्ञापित करते हैं– हेतु प्रत्यय की अपेक्षा करके भावों का 'उत्पाद' या 'प्रादुर्भाव' अर्थात् इसके होने पर 'इमस्मिं सत्ति' यह होता है। 'इदं होति', इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है। आचार्य बुद्धघोष कहते हैं कि यहाँ केवल उत्पत्ति मात्र का ज्ञान प्रतीत्य समुत्पाद नहीं है। बल्कि इससे यह भी प्रकट होता है कि इसके न होने पर यह नहीं होता अर्थात्– इसके निरोध से यह भी निरूद्ध हो जाता है। यही हेतु फल–परम्परा है। इसे ही प्रत्ययाकार या प्रच्चयाकार निदान भी कहा जाता गया है। जिसका सम्बन्ध अनित्यत्त्व और अनात्मत्त्व से है। कोई भी संस्कृत पदार्थ शाश्वत नहीं है, सभी अनित्य एवं क्षणिक है तथा हेतु प्रत्यय जनित है। इसी से यह प्रतीत्य समुत्पाद का बुद्ध देशना में सर्वोपरि उच्च स्थान है। जो इसे देखता है। वह धर्म को भी देखता है। अतः जो प्रतीत्य समुत्पाद को जानता है। वह धर्म को जानता है जो धर्म को जानता है। वह प्रतीत्य समुत्पाद को भी जानता है।

4. पालि ग्रंथों में– प्रतीत्य समुत्पाद को तथता, अवितथता, अनन्यथता और इदम्प्रत्ययता कहा गया है। तथता, इसका अर्थ होता है कि ''उन प्रत्ययों से उन–उन धर्मों की उत्पत्ति होती है, उनसे कम या अधिक नहीं इसलिए तथता है। अवितथता इसलिए है कि प्रत्यय सामग्री उपस्थित होने पर उसमें उत्पन्न होने वाले धर्म भी अवश्य ही उपस्थित होते हैं। 'अनन्यथता' का अर्थ है कि किन्हीं

RRIJM 2015, All Rights Reserved

अन्य प्रत्ययों से किन्हीं अन्य पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती और 'इदमप्रत्ययता' इसलिए कि सभी पदार्थ प्रत्ययों या प्रत्यय समूहों के द्वारा ही उत्पन्न होते हैं। अतः कारण से कार्य का उत्पाद तथा कारण के अभाव में कार्य का अनुत्पाद बतलाने वाला नियम का नाम ही प्रतीत्यसमुत्पाद है।

5. चार आर्य सत्य और प्रतीत्यसमुत्पाद–इसलिए कहा गया है कि प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध दर्शन की आधारशिला है। इसे जाने बिना बुद्ध धर्म को समझ सकना संभव नहीं है। यदि चतुरार्य सत्यों को हम बुद्ध धर्म के मूल उपादान माने और अनता या अनात्मवाद के सिद्धान्त को बुद्ध शासन का तात्विक प्रतिष्ठा, तो हम निश्चय ही कह सकते हैं कि प्रतीत्यसमुत्पाद इन दोनों की मध्यस्थता करता है। अपने एक स्वरूप में जबकि यह नियम द्वितीय और तृतीय आर्य सत्यरूप दुःख समुदय और दुःख निरोध की हेतु सम्मत् व्याख्या करता है और अविचल कार्य कारण भाव सम्बन्धी नियम के आधार पर दुःख निरोध की सम्भावना दिखाता है, तो अपने दूसरे रूप में यह सभी बाह्य और आन्तरिक पदार्थों या धर्मों का क्षणिक, अनित्य और प्रतीत्यसमुत्पाद दिखाकर उनमें अनात्म बुद्धि का स्फुरण करता है। जो दुःख और वेदनाओं के निरोध का एक मात्र उपाय है। वह न शाश्वत अस्तित्त्व कहता है और न उच्छेद। इस प्रकार यह मध्यवर्ती मार्ग का अवलोकन करता है। चतुरार्य सत्यों में आर्य अष्टांगिक मार्ग दोनों अन्तर्भावित है।

शरीर पीड़ा और भोगवाद की अतियों से बचकर जिस प्रकार भगवान् ने आर्य अष्टांगिक मार्ग के रूप में समन्वित जीवन विधि का विकास किया उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में भी उन्होंने समन्वय विधान किया। इस प्रकार उनके द्वारा साक्षात् कृत मध्यमप्रतिपदा अपने पूर्ण अर्थ में अत्यंत व्यापक और विस्तृत दृष्टि लिये हुए थी बुद्ध के सम्पूर्ण शासन की मध्यम मार्ग के रूप में व्याख्या की जा सकती है। 'मज्झेन तथागतो धम्मों देसेति' अर्थात् मध्यम मार्ग के द्वारा तथागत धर्म का उपदेश करते हैं। यह बात केवल आर्य अष्टांगिक मार्ग पर ही लागू नहीं है। बुद्ध की संपूर्ण तात्त्विक स्थिति की व्याख्या इसी दृष्टि से करनी चाहिये जिस तात्त्विक आधार को उन्होंने स्वीकार किया वह भी उनके काल में प्रचलित नाना दार्शनिक मतवादों की भूल भुलईया और उनके अतिवादों से बचकर मौन साधना करने के लिये था जिससे सत्य प्राप्त होता है।

6. प्रतीत्यसमुत्पाद और मध्यम मार्ग– प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यम मार्ग भी बतलाया गया है। बौद्धधर्म में मध्यम मार्ग दो अन्तो अर्थात् शाश्वत दृष्टि और उच्छेद दृष्टि से दूर रहना बतलाया गया है। आचार्य बुद्ध घोष का कथन है कि 'प्रतीत्य' शब्द से शाश्वत दृष्टि का और 'समुत्पाद' शब्द से उच्छेद दृष्टि का प्रहाण हो जाता है तथा दोनों पदों के सामूहिक शब्द प्रतीत्यसमुत्पाद से शाश्वत और उच्छेद के बीच का सही रास्ता (न्याय) प्रतिपादित होता है। यदि चार आर्य सत्यों को बुद्ध देशना के मूल उपादान मानें और आनित्य और अनात्म को बुद्ध शासन की तात्विक प्रतिष्ठा स्वीकार करें तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रतीत्यसमुत्पाद एक ओर दुःख समुदय और दुख निरोध की संभावना को दर्शाता है। वहाँ दूसरी ओर वह समस्त बाह्य एवं आंतरिक धर्मों को अनित्य, प्रतीत्य समउत्पन्न दिखाकर उनमें अनात्म का प्रतिपादन करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद न तो शाश्वतवाद का प्रतिपादक है और न ही उच्छेदवाद का। वह तो मध्यवर्ती मार्ग का अवलंबन करता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद को मध्यमाप्रतिपदा के द्वारा भी जाना जा सकता है।

'संयुक्त निकाय' में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि मध्यमाप्रतिपदा आस्तिकता और नास्तिकता दोनों अंतों से परे है। जिससे संसार पूर्णतः आशक्त है। पुनः भगवान् बुद्ध ने कहा है कि दुःख न स्वयंकृत है और न परकृत और न अधिक्य समउत्पन्न है। परन्तु शाश्वत च उच्छेद से बचने के लिए मध्यमा प्रतिपद का अवलंबन किया गया है और वही प्रतीत्यसमुत्पाद है। सुख और दुःख संवेदन न तो संवेदक से भिन्न है न तो अभिन्न क्योंकि वह भिन्न होने पर परकृत हो जाते हैं और अभिन्न होने पर स्वयंकृत। प्रतीत्यसमुत्पाद में संवेदन को न स्वतंत्र माना गया है और न परतंत्र ही। तथागत् का धर्म जीव और शरीर के भेद तथा अभेद के विषय में अंतः परिवर्तन का ज्ञापक है। कर्म के कर्ता को उसके फल के अनुभविता से न तो भिन्न और न अभिन्न ही कहा गया है। इस प्रकार तथागत् ने दोनो अंतों से बचकर मध्य स्थित सत्य की देशना की है। किन्तु कुछ मनीषियों की धारणा है कि मध्यमाप्रतिपदा के आस्तिक और नास्तिक के परिणाम संबंध की तरह है जो शाश्वत और उच्छेद की अतियों से बचकर जीवन की सतत् प्रवाहशीलता का उपदेश करती है। किन्तु यह धारणा मान्य न होने के कारण सर्वथा ग्राह्य नहीं है। तथागत् संसार प्रवाह में पदार्थ के सत् तथा असत् का कथन नहीं करते। अपितु वह प्रवाह को न तो सत् कहते हैं और न असत् ही, क्योंकि मध्यमाप्रतिपदा अस्ति और नास्ति का समन्वय नहीं है। वह तो अतिक्रमण कर मात्र सत्य का कथन करती है। अतः भगवान् ने प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना अनेक बार और भिन्न–2 रूप से की है। इसका कारण तथागत् की कल्याणकारी भावना है। इस सिद्धान्त की विभिन्नता का एक कारण यह भी है कि भगवान् ने इसका उपदेश भिन्न–2 स्थानों पर भिन्न–व्यक्तियों को उनकी रूचि के अनुसार दिया है। यद्यपि प्रतीत्यसमुत्पाद का शनैः शनैः दार्शनिक विकास हुआ है। फिर भी इसका मूल रूप सुत्त पिटक में विद्यमान था जो अस्वीकृत नहीं किया जा सकता। (प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत अमिट और अटल है। लोक के समस्त सत् इस नियम के वशीभूत ही नहीं हैं। बल्कि रूप और अरूप के धातु लोक के देव आदि भी इस नियम के आगे मस्तक झुकाते हैं। भूत, वर्तमान व भविष्य इन तीनों कालों में यह नियम लागू होता है। बौद्धों के अनुसार यह भव चक्र का नियम अनंत और अनादि है।)

प्रतीत्यसमुत्पाद के साक्षात्कार से मनुष्य संसार से निस्सार पा सकते है। क्योंकि दुःख समुदय, दुःख निरोध की हेतु सम्मत् व्याख्या है। कार्य कारण भाव नियम के आधार पर यह दुःख समुदय को सम्भवतः यह निर्देश करता है कि सभी बाह्य आंतरिक पदार्थ को क्षणिक, अनित्य और प्रतीत्य समुत्पन्न दिखाकर अनात्म बुद्धि स्फूर्त करता है, जो दुःख निरोध की एक मात्र युक्ति है। जैसे दुःख के स्वरूप में द्वैत है उसी प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद भी द्वैतात्मक है। प्रतीत्यसमुत्पाद का विवेचन दो रूपों में किया जाता है। इसका एक व्यापक रूप है। जिसमें दुःख की परम् कारणता की अविद्या प्राप्त होती है और दूसरे रूप में पुर्नजन्म और दुःख अनुभूति के आसन्न कारणों का ज्ञान प्राप्त होता है। अविद्या के स्वरूप का निर्देश करता हुआ ये परमार्थ का ज्ञापन करता है। क्योंकि कार्य–कारण से नियम का व्यापार अविद्या ग्रस्त जगत् में ही क्रियमान होता है। स्वयं ही गौण रूप में यह अविद्या–विजटित जीवन के अभ्यन्तर दुःख के चक्राकार विकसित रूप का निरूपण करता है।

प्रतीत्य समुत्पाद में कार्य को कारण का परिणाम नहीं माना जाता और न उसे असत् से उद्भूत ही। कारण न तो कार्य का उत्पादन है और न आरंभिक ही तथापि कारण और कार्य की सत्ता में सापेक्षता विद्यमान है। अतः हेतुवाद का यह सिद्धांत परिणामवाद और आरम्भवाद से सर्वथा भिन्न एवं विलक्षण है।

7. प्रतीत्यसमुत्पाद के दो पक्ष है– प्रतीत्यसमुत्पाद के दो पक्ष हैं– पारमार्थिक पक्ष और व्यावहारिक पक्ष। प्रथम पक्ष परमार्थ को सत् तथा असत् से परे बताता है। और द्वितीय पक्ष कार्यकारण नियम के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन करता है। इससे यह पूर्णतः स्पष्ट है कि संसार को सत् तथा असत् मानना ही दुःख का मूल कारण है। इसे ही अविद्या कहते हैं। अविधाग्रस्त चित्त ही दुःखात्मक संसार चक्र में कर्म एवं तृष्णा आदि से परिचालिक होता है। प्रतीत्य समुत्पाद के दो पक्ष वस्तुतः दुःख के अर्थ में द्वैत है। एक ओर दुःख का अर्थ है। दुःखात्मक अनुभव, दूसरी ओर उसका हेतु भूत अनित्य जगत् दुःख के इन दोनों मुख्य और गौण अर्थों के अनुरूप ही; प्रतीत्यसमुत्पाद के भी दो रूप हैं– एक व्यापक रूप जिसमें कि दुःख की परम्कारणता उभर आती है और एक दूसरा सीमित रूप जो कि

पुर्नजन्म और दुःख संवेदन के आसन्न कारणों का निर्देश करते हुए पहले का एक विशिष्ट उपयोग है। एक और प्रतीत्य समुत्पाद दुःखमय संसार को परमार्थ की भूमि से निरूपित करता है, दूसरी ओर व्यवहार की अन्तर्गत कार्य प्रणाली की ओर इंगित करता है।

दुःख का मूल आधार अविद्या है और प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुतः अविद्या का स्वरूप प्रकट करता हुआ परमार्थ की ओर संकेत करता है। अविद्या रूपी जगत् के अन्दर ही कार्य कारण नियम का व्यापार रहता है और प्रतीत्यसमुत्पाद का गौण रूप अविद्या कुंडलित जीवन के अन्दर समुत्पाद दुःख का चक्राकार विकास प्रदर्शित करता है। जिस एक विचार के अर्थ पर तथागत् का सम्पूर्ण धर्मचक्र घूमता है और जिसके द्वारा वह अपनी विशेषता और मौलिकता प्राप्त करता है, वह प्रतित्यसमुत्पाद है। केवल उसकी यह मान्यता कि संसार नन्दी (तृष्णा) के फन्दों से बुरी तरह दुःख में फंस गया है, एक दुःख से ही दूसरे दुःख में निरन्तर प्रवेश करता हुआ वह उसके निस्सरण को नहीं जानता, और उसे इसका एक मार्ग बतलाना है। तथागत् को सदा ही यह चिन्ता सताती रही ''यह संसार बहुत कष्ट में पड़ा है, जन्म लेता है, वृद्ध होता है, मरता है, च्युत होता है और फिर उत्पन्न होता है। वह इस दुःख से जरा और मृत्यु से निस्सरण को नहीं जानता। वह किस तरह इससे निस्सरण को जानेगा किस तरह यह प्राणी इस तृष्णा रूपी जटा से जिससे वह बाहर–भीतर बुरी तरह जकड़ा हुआ है, अपने को सुलझा पायेगा? इसी चिन्ता का समाधान तथागत् के द्वारा विशुद्धि मार्ग के रूप में दिया गया और इसी की वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक व्याख्या स्वरूप प्रतीत्यसमुत्पाद भी मनुष्य जाति को विरासत रूप में मिला।

अतः बौद्धधर्म का सिद्धांत है कि इस जगत् का व्यापार कार्यकारण नियम के अनुसार चल रहा है। प्रत्येक घटना अपनी पूर्ववर्ती घटना के कारण होती है और वह घटना अपने परवर्ती अर्थात् आगे होने वाली घटना का कारण होती है। प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्त्व भी कार्य कारण नियम के अधीन है। इस कार्यकारण नियम को बौद्धशास्त्रों में ''प्रतीत्यसमुत्पाद'' नियम कहा गया है।

''अस्मिन् सति इदं भवति'' अर्थात् इसके होने से यह होता है। प्रतीत्युसमुत्पाद के बारह अंग है। इसे द्वादशांग कहते हैं। जिसमें एक दूसरे के कारण उत्पन्न होता है। इसे ''भवचक्र'' कहते हैं। इस चक्र के कारण इस संसार की सत्ता प्रमाणित होती है। इन अंगों की संज्ञा निदान भी कहलाती है। यह भवचक्र अनादि है। ऐसा कोई आदि नहीं है जिसका हेतु उसके पूर्व नहीं।

8. भव चक्र या द्वादशांक–प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम को मानव पर लगाते हुए बुद्ध ने इसके बारह अंग (द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद) बतलाए हैं। इसे इस प्रकार समझना चाहिएः–

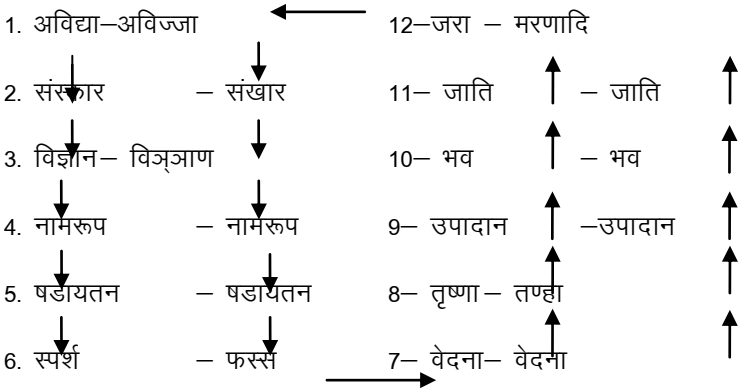

1–2 **अविद्या** के प्रत्ययों से **संस्कार** उत्पन्न होते हैं।
2–3 **संस्कारों** के प्रत्ययों से **विज्ञान** उत्पन्न होते हैं।
3–4 **विज्ञान** के प्रत्ययों से **नामरूप** उत्पन्न होते हैं।
4–5 **नामरूप** के प्रत्ययों से **षडायतन** उत्पन्न होते हैं।
5–6 **षडायतन** के प्रत्ययों से **स्पर्श** उत्पन्न होते हैं।
6–7 **स्पर्श** के प्रत्ययों से **वेदना** उत्पन्न होते हैं।
7–8 **वेदना** के प्रत्ययों से **तृष्णा** उत्पन्न होते हैं।
8–9 **तृष्णा** के प्रत्ययों से **उपादान** उत्पन्न होते हैं।
9–10 **उपादान** के प्रत्ययों से **भव** उत्पन्न होते हैं।
10–11 **भव** के प्रत्ययों से **जाति** उत्पन्न होते हैं।
जाति के प्रत्ययों से **जरामरण** आदि उत्पन्न होते हैं।

शोक, परिदेव, दुःख दौर्मनस्य, परेशानी और हैरानी इस सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध से उत्पन्न होते हैं अर्थात् समुदय होता है, यही कहा जाता है भिक्षुओं प्रतीत्यसमुत्पाद इस प्रकार का है।

पुनः **अविद्या** के रूक जाने से **संस्कार** रूक जाते हैं।
संस्कार के रूक जाने से **विज्ञान** रूक जाते हैं।
विज्ञान के रूक जाने से **नामरूप** रूक जाते हैं।
नामरूप के रूक जाने से **षडायतन** रूक जाते हैं।
षडायतन के रूक जाने से **स्पर्श** रूक जाते हैं।
स्पर्श के रूक जाने से **वेदना** रूक जाते हैं।
वेदना के रूक जाने से **तृष्णा** रूक जाते हैं।
तृष्णा के रूक जाने से **उपादान** रूक जाते हैं।
उपादान के रूक जाने से **भव** रूक जाते हैं।
भव के रूक जाने से **जाति** रूक जाते हैं।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

जाति के रूक जाने से **जरामरण** रूक जाते हैं।

जाति के रूक जाने से जरा–मरण, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य, हैरानी व परेशानी रूक जाते हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण दुःख स्कन्ध रूक जाते हैं। यही प्रतीत्यसमुत्पाद कहलाता है।

भगवान् बुद्ध द्वारा कहा गया अनुलोम और प्रतिलोम के मार्ग से क्रमशः यह समुदय और निरोध का निरूपण करता हुआ यह कार्यकारण भावरूप नियम है। विशेषतः दुःख के समुदय और निरोध को समझाने के लिए ही सिखाया गया है।

दुःखों का मूल कारण अविद्या है। अविद्या से संस्कार उत्पन्न होता है। संस्कार से विज्ञान, विज्ञान से नामरूप, नामरूप से षडायतन, षडायतन से स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा, तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति और जाति से जरा व रोग उत्पन्न होते हैं। बुढापा व रोग, मरण से शोक उत्पन्न होता है। शोक से शारीरिक व मानसिक दुःख; संस्कार और विज्ञान आदि सारे दुःख स्कन्धों की उत्पत्ति होती है। इन पाँच तत्त्वों में रूप और विज्ञान मुख्य है, शेष तीन (वेदना, संज्ञा, संस्कार) रूप और विज्ञान के सम्पर्क की भिन्न–भिन्न स्थितियाँ या क्रियाएँ हैं। रूप भौतिक तत्त्व है और विज्ञान, वेदना वास्तविकता के ये दो रूप हैं और दोनों क्षण–क्षण परिवर्तनशील है, वास्तविकता नदी की एक धारा है। यह ऐसी नदी है। जिसमें एक क्षण भी एक जगह गोता नहीं लगाया जा सकता। जल के परमाणु बदलते और भागते चले जाते हैं। इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य हर क्षण मर रहा है और हर क्षण पहले की जगह एक नया व्यक्ति उत्पन्न हो रहा है। यह परिवर्तन इतनी तेजी से होता है कि इस काल को हम पकड़ नहीं सकते। परन्तु इस परिवर्तन में पहले का दृश्य प्रवाह रूप में चलता है। जिससे हम समझ नहीं पाते कि यह परिवर्तित रूप है, पहले वाला नहीं। मनुष्य बच्चे से जवान और जवान से बूढ़ा होता है, केवल यही परिवर्तन नहीं है, वह हर क्षण मरता है और दूसरा उसी के समान आ जाता है। बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुतः ऐसा कार्यकारण वाद है। जिसमें कार्य के बाद कारण विलुप्त हो जाता है। तात्पर्य यह है कि एक की प्रतीति होने पर दूसरे का उत्पाद होता है कारण होकर कार्य उत्पन्न होता है इस श्रृंखला में पूर्व कारण 'रूप' है तथा पर कार्य विज्ञान। जरामरण की उत्पत्ति जाति से होती है। यदि जीव का जन्म ही नहीं होता तो जन्म मरण का अवसर ही नहीं आता, यह जाति भव कर्म का परिणामस्वरूप हैं। इस प्रकार व्यक्ति की सत्ता के लिए ''अविधा' ही मूलकारण है। यह प्रथम निदान है। अविद्या फिर अपने चक्र को बारह अंगों में दुहराती है। इसे ही द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं।

1. अविद्या (अविज्जा)–यह पूर्वजन्म की वह क्लेश दशा है जिसमें अज्ञान, मोह तथा लोभ के वश में हो प्राणी क्लेशबद्ध रहता है। यहाँ पूर्वजन्म की संतति की जो क्लेशावस्था होती है, वही अभिप्रेत है। अविद्या का अर्थ है अज्ञान यहाँ अविद्या का अर्थ प्रायः आर्य सत्यों का अज्ञान है। प्रतीत्यसमुत्पाद सम्बन्धी अज्ञान अविद्या भी स्वयं उत्पन्न नहीं होती अपितु कामासव, भवासव, दृष्टयासव तथा अविद्यासव से उत्पन्न होती है। आसवों के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। आसवो के समुदाय से अविद्या का समुदय होता है और अविद्या की उत्पत्ति से आसवधर्म प्रत्यय होते हैं। प्रतीत्यसमुत्पाद में अविद्या तथा तृष्णा ये दोनों शीर्षस्थानीय धर्म कहे गए हैं। शीर्ष स्थानीय दोनों धर्मों में अविद्या प्रधानभूत होती है क्योंकि अविद्या से आवृत होने पर तृष्णा परिगत पुद्गल उन संस्कार धर्मों को करता है, अतः अविद्या प्रत्यय में संस्कार उत्पन्न होते हैं।

2. संस्कार (संखार)–यह पुनर्जन्म की कर्मावस्था है, जिसमें अविद्या के कारण प्राणी भला या बुरा कर्म करता है तात्पर्य भले बुरे कर्मों का सूक्ष्म अंग है। संस्कार का संबंध ''चित्त'' से है। कुशल और अकुशल; कायिक, वाचिक एवं मानसिक चेतनाओं का नाम संस्कार है। जो पुनर्जन्म का कारण बनती है। प्रतीत्यसमुत्पाद में संस्कार का प्रयोग कर्म के अर्थ में ही लिया गया है अर्थात् पुनर्जन्म के कर्म ही संस्कार कहलाते हैं। अतः जो संस्कृत प्रत्युत्पन्न धर्मों को अभिसंस्कृत कहते हैं। उन्हें भी संस्कार कहते हैं।

संस्कार भी द्विविध है– कारण संस्कार तथा कार्य संस्कार। कारण संसार में कुशलाभिज्ञा एवं औद्वत्य चेतना सम्मिलित नहीं होती है। कार्य संस्कार में कुशलाभिज्ञा चेतना तथा औदत्य चेतना सम्मिलित रहती है। संस्कार के प्रत्यय से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है।

3. विज्ञान (विञ्ञाण)–यह प्रतिसन्धि स्कन्ध है। प्रतिसन्धि–क्षण (उत्पत्ति क्षण) में कुक्षि के जो पंच स्कन्ध होते हैं, वह विज्ञान है। अतः संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होने का अर्थ चित्त सन्तति का जन्मान्तर में आ जाना है। इस तरह विज्ञान गर्भ का क्षण है। जिसे प्रतिसन्धि या उत्पत्ति क्षण भी कहते हैं। यहाँ विज्ञान का अभिप्राय प्रतिसन्धि विज्ञान है। ''सन्धि स्कन्धास्तु विज्ञानम्'' अतः विज्ञान इस जीवन की वह दशा है। जब प्राणी माता के गर्भ में प्रवेश करता है और चैतन्य प्राप्त करता है। वह गर्भ का क्षण विज्ञान है। विज्ञान से यहाँ तात्पर्य उन चित धाराओं से है, जो पूर्वजन्म के किए हुए कुशल या अकुशल कर्मों के विपाकस्वरूप यहाँ प्रकट होती है और जिनके कारण ही मनुष्य को अपने विषय में **पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ** विषयक अनुभूति होती है। यदि अविद्या और तृष्णा के निरोध से कुशल अकुशल अथवा अव्याकृत संस्कार उत्पन्न न हो तो फिर माता के गर्भ में पुनः विज्ञान का बीज पड़ता ही नहीं, पुनर्जन्म होता ही नहीं। विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप होता है। संस्कार के प्रत्यय से ही विज्ञान की उत्पत्ति होती है। पूर्व पूर्वभव में कृत पुण्याभिसंस्कार से प्रत्युत्पन्न भव की कामसुगति भूमि एवं रूपभूमि में प्रतिसंधि विज्ञान की उत्पत्ति होती है। अपुण्याभिसंस्कार से अपायभूमि में प्रतिसन्धि विज्ञान की उत्पत्ति होती है तथा आनेञ्जयाभिसंस्कार से अरूपभव में प्रतिसन्धि विज्ञान की उत्पत्ति होती है। इन पुरोवर्ती भव के संस्कारों से इस प्रत्युत्पन्न भव के प्रवृति काल में भी चक्षुविज्ञान आदि विज्ञानों की उत्पत्ति होती है। सर्वास्तिवाद में पूर्वजन्म के क्लेश और कर्म के कारण उत्पन्न नयी चेतना विज्ञान कही गयी है।[1]

4. नामरूप–(विज्ञान) इस क्षण से लेकर षडायतन की उत्पत्ति तक नामरूप है। विज्ञान अर्थात् चित्त सन्तति का जन्मांतर होने से नामरूप की उत्पत्ति होती है। नाम रूप से तात्पर्य मानसिक या मौलिक अवस्था का अथवा जड़ चेतन की स्थिति का भेदभाव होता है। इस तरह विज्ञान प्रत्यय से नाम रूप होता है। नामरूप जन्म लेने वाले प्राणी (भ्रूण) की मानसिक तथा शारीरिक अवस्था है। जब वह गर्भ में कुछ सप्ताह बिता चुका होता है। यह गर्भ में भ्रूण का कलवल या बुद बुद आदि अवस्था है।

नामरूप पञ्चस्कन्ध का द्योतक है। रूप वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान रूप में चार महाभूत तथा 24 उपादायरूप सम्मिलित हैं। चार महाभूतों के आश्रय से उत्पन्न होने के कारण उत्पन्न रूपों को उपादायरूप कहते हैं। रूप से रूप–स्कन्ध का ग्रहण होता है तथा नाम से वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान का। इस प्रकार नामरूप पञ्चस्कन्ध का पर्याय है। मिलिन्द पञ्हो के अनुसार[2] जितनी स्थूल चीजें हैं सभी रूप हैं और जितने सूक्ष्म मानसिक धर्म हैं, सभी नाम हैं। नाम और रूप दोनों सापेक्ष तथा परस्पराश्रयी हैं। जब प्रतिसन्धि विज्ञान होता है तब उन विज्ञानों से सम्प्रयुक्त तीन नाम स्कन्ध एवं कर्मज रूपकलापों की उत्पत्ति भी युगपत् होती है। उन युगपत् उत्पन्न विज्ञान से नामरूपों की उत्पत्ति होती है। विज्ञान से उत्पन्न नामरूप ही जन्म–मरण का कारण है।

5. षडायातन (सडायतन)– इन्द्रियों के प्रादुर्भाव काल से इन्द्रिय विषय और विज्ञान के सन्निपात काल तक 'षडायतन' है। अर्थात् नाम रूप के होने से षडायतन अर्थात् चक्षु, श्रोत, घ्राण, जिह्वा,

RRIJM 2015, All Rights Reserved

त्वक् (काय) और मन ये छः इन्द्रियाँ उत्पन्न होती है। इनके विषय रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और धर्म ब्राह्य षडायतन कहलाते हैं। षडायतन उस अवस्था का मूलक है। जब भ्रूण माता के उदर से बाहर आता है। उसके अंग प्रत्यय बिल्कुल तैयार हो जाते हैं, परन्तु अभी तक वह उन्हें प्रयुक्त नहीं करता है।

अतः इन्द्रियाँ और उसके विषय यह दो ज्ञान के मुख्य द्वार हैं। इस ज्ञान के द्वार को ही आयतन कहते हैं। आयतन दो प्रकार की होती है। 1. बाह्य और 2. आध्यात्मिक। ये आयतन अध्यात्म और बाह्य रूप से द्वादश हैं।

इस प्रकार षडायतन में 'आयतन' शब्द का अर्थ है– आयद्वार या उत्पत्ति द्वार। इस संसार में जो भी वस्तु हम जानते हैं। उसमें दो वस्तुएँ प्रमुख होती हैं। एक इन्द्रियाँ और दूसरे उनके विषय। यही दो हर तरह के ज्ञान के मुख्य द्वार हैं। इन्हीं के दरवाजों से प्रवेश कर चक्षुविज्ञान, श्रोतविज्ञान.... आदि होता है। अतः ज्ञान के द्वार को ही आयतन कहते हैं।

1. नामरूप से ही इन्द्रिय अनुभूतियाँ होती हैं। अर्थात् यदि चारों महाभूत (रूप) वेदना, संज्ञा और संस्कार नहीं होते तो इन्द्रिय अनुभूतियों का होना असम्भव है।

2. अतः नामरूप के प्रत्यय से षडायतन की उत्पत्ति होती है। षडायतन पाँच इन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न मन का अभियान है अर्थात् चेतना के विभिन्न स्वरूप अपने संग्रहात्मक रूप में षडायतन है। जब नामरूपों में आने वाले कर्मजरूपों की उत्पत्ति होती है, तब चक्षुरायतन आदि की उत्पत्ति संभव नहीं है। नाम से समागत चैतसिक धर्मों द्वारा मन आयतन नामक विपाक विज्ञान सहजात आदि शक्तियों से उपकारक होता है।

6. स्पर्श (फस्स)– षडायतन के प्रत्यय से स्पर्श होता है। इन्द्रिय और विषय का संयोग ही स्पर्श है। यह सुख–दुःख आदि के कारण ज्ञान की शक्ति के उत्पन्न होने से पूर्व अवस्था 'स्पर्श' है। अतः षडायतन के होने से स्पर्श होता है। यह छः प्रकार की होती है। आँख का स्पर्श, कान का स्पर्श, नाक का स्पर्श, जीभ का स्पर्श, शरीर का स्पर्श, मन का स्पर्श अर्थात् रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श और मन का धर्म या चित्तवृतियाँ, इन छः इन्द्रियों का स्पर्श करती हैं। इसे पालि में 'फस्स' कहते हैं या संस्पर्श, ये सभी कुशल या अकुशल कर्म के विपाक हैं। यह शैशव की वह दशा है। जब नवजात सत्व बाह्य जगत् के पदार्थों के साथ सम्पर्क में आता है। वह ऊपरी इन्द्रियों के प्रयोग से बाहरी जगत् को समझने का उद्योग करता है। परन्तु उसका वह समय वेदना की पूर्व अवस्था है।

अतः जो धर्म आलम्बन का स्पर्श करता है उसे स्पर्श कहते हैं। अथवा जिसके द्वारा सम्प्रयुक्त चित्त चैतसिक आलम्बन का स्पर्श करते हैं वह स्पर्श है। स्पर्श षडविध है यथा– चक्षुसंस्पर्श, श्रोतसंस्पर्श, घ्राणसंस्पर्श, जिह्वासंस्पर्श, कायसंस्पर्श एवं मनः संस्पर्श, ये सभी कुशल या अकुशल कर्म के विपाक हैं। स्पर्श के प्रत्यय से वेदना उत्पन्न होती है।

7. वेदना–इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव का नाम वेदना है। स्पर्श के होने से सुख–दुःख आदि वेदनाएँ उत्पन्न होती हैं। यह शिशु की वह दशा जब वहाँ पांच छः वर्षों के अनन्तर सुख–दुख की भावना से परिचित होता है। स्पर्श में बाह्य जगत् का ज्ञान, (धुंधला ही सही) उत्पन्न होता है और वेदना में अर्न्तजगत् का ज्ञान जागृत् होता है। दस वर्ष तक बालक के शरीर मन की प्रवृत्तियाँ बढ़ती हैं। परन्तु अभी तक उसे विषय सुखों का ज्ञान नहीं रहता है। मैथुन से पूर्व यावत् मैथुन राग का समुदाचार नहीं होता। जब तक कि अवस्था वेदना है इस प्रकार स्पर्श प्रत्यय से वेदना होती है। वेदना सुख दुःख ओर न सुख न दुःख अनुभव रूप से त्रिविध होती है।

आचार्य बुद्धघोष ने इसे ही 89 चित्तों के साथ होने से 89 प्रकार की बतलायी है। भगवान बुद्ध कहते हैं कि– संस्कारों की अनित्यता और विपरिणामिता को लेकर ही यह कहा गया है कि जो कुछ वेदनीय है, वह दुःख है। क्योंकि हर वस्तु अनित्य, सुखरूप, प्रतिभासित होने पर भी अंततोगत्वा दुःख रूप ही है। अतः अभिप्राय विशेष से ही भगवान् ने वेदना को दुःख रूप बतलाया है। वैसे स्वभावतः जो वेदना सुख, दुःख और सुख–दुःख रूप से है उसका खण्डन नहीं किया है।

अतः स्पर्श के प्रत्यय से वेदना उत्पन्न होती है। इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न मन पर प्रथम प्रभाव का नाम वेदना है। जब छह स्पर्श उत्पन्न होते हैं। तब छः वेदनाएँ भी उनके साथ युगपत् होती हैं। स्पर्श के अभाव में वेदना नामक अनुभव की उत्पत्ति असम्भव है। वेदनाएँ छः हैं यथा– चक्षुसंस्पर्शजा वेदना, श्रोतसम्पर्शजा वेदना, घ्राणसंस्पर्शजा वेदना, जिह्वासंस्पर्शजा वेदना, कायसंस्पर्शजा वेदना तथा मनसंस्पर्शजा वेदना। चक्षुःसंस्पर्शजा वेदना से उत्पन्न वेदना चक्षुसंस्पर्शजा वेदना होती है। इसी प्रकार अन्य वेदनाएँ भी अवधेय है।

8. तृष्णा (तण्हा)–विषयों के प्रति प्रबल चाह को तृष्णा कहते हैं। वेदना के उत्पन्न होने से तृष्णा उत्पन्न होती है। तृष्णा भोग और मैथुन की कामना करने वाले जीव की अवस्था है। रूपादि कामगुण और मैथुन के प्रति राग का समुदय 'तृष्णा' की अवस्था है। इसका अंत तब तक होता है, जब इस राग के प्रभाव से जीव भोगों की पर्येष्टि आरम्भ करता है। इस प्रकार वेदना प्रत्यय से तृष्णा होती है छः प्रकार के विषयों के प्रति तृष्णा छः प्रकार की होती है– रूपतृष्णा, शब्दतृष्णा, गन्धतृष्णा, रसतृष्णा, स्पृष्टव्यतृष्णा, धर्मतृष्णा। उन षडविध तृष्णाओं का काम तृष्णा, भव तृष्णा एवं विभवतृष्णा इन तृष्णाओं से गुणा करने पर अठारह हो जाती हैं। त्रिविध तृष्णा ही सम्पूर्ण दुखों का मूल है। वेदना के कारण ही तृष्णा की उत्पत्ति होती है। इसलिए वेदना पच्चया तण्हा कहा गया है। 'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है कि प्रयास का होना तृष्णा है। 'परितस्मती ति तण्हा' कुछ कहते हैं कि जिस प्रकार अंधेरे में चोर अपने हाथ फैलाता है उसी प्रकार अप्राप्यविषयों को पाने की इच्छा तृष्णा है।[3]

9. उपादान–तृष्णा के उत्पन्न होने से उपादान उत्पन्न होता है। उपादान का तात्पर्य है विषयों के ग्रहण करने की प्रवृत्ति या आसक्ति यह उस जाति की अवस्था है जो भोगों की पर्येष्टि में दौड़ धूप करता है। वह भोगों की प्राप्ति के लिए सब ओर दौड़ता है। इस प्रकार तृष्णा प्रत्यय से उपादान होता है। उपादान का अर्थ है– ग्रहण करना और उप का अर्थ है दृढ़तापूर्वक अथवा आसक्तिपूर्वक। दृढ़तापूर्वक ग्रहण करना उपादान है। 'उप' शब्द अतिरेक अर्थ में भी लिया गया है, जिससे उपादान का अर्थ होता है। अपने में सम्प्रयुक्त विषयालम्बन का अतिशरूप से ग्रहण करने वाला धर्म विशेष। अतः सम्बन्ध में दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने वाले धर्मों को उपादान कहते हैं। उपादान चतुर्विध है। कामोपादान, दृष्ट्युपादान शीलव्रतोपादान एवं आत्मवादोपादान।

1. कामोपादान–(स्त्री में आसक्ति) आसक्ति ही तृष्णा है। अतः सामान्यतया अतिरेक रूप से होने वाली आसक्ति कामोपादान है। तृष्णा सामान्य आसक्ति है तथा कामोपादान आसक्ति बलवती आसक्ति है। सभी प्रकार की दृष्टियाँ चाहे छोटी हो या बड़ी, दृढ़तापूर्वक ग्रहण करने से उपादान कहलाती है। अतः अतिरेक रूप से कामादि सेवन की आसक्ति (तृष्णा) कामोपादान है। काम तृष्णा और कामोपादान में एक मात्र यही अन्तर है कि क्षीण कार्यवर्ती (काम) तृष्णा होती है और उत्कृष्ट बलवती आसक्ति (काम) उपादान कहलाती है। आलम्बन के प्रति प्रथम अभिलाषा तृष्णा और उसके प्राप्त होने पर पुनः–पुनः उसकी इच्छा 'कामोपादान' है। आलम्बन की अभिलाषा, उनका अन्वेषण आदि दुःख स्कन्ध का मूल कारण तथा प्राप्तालम्बन का अनुचिन्तन रागादि दुःख स्कन्ध का कारण 'कामोपादान' है।

2. दृष्ट्युपादान (दृष्टि उपादान)–इसके चार भेद हैं 1. सत्यकाय दृष्टि, 2. अन्तर्ग्राहीदृष्टि, 3. मिथ्यादृष्टि, 4. दृष्टि परमार्थ। मैं, मेरा और मेरी की जो दृष्टि है। वह सत्काय दृष्टि है। क्योंकि पंचोपादान

RRIJM 2015, All Rights Reserved

स्कन्ध ही सत्काय कहे गये हैं और इन्हीं पंचोपादान स्कन्धों की विद्यमानता की दृष्टि की सत्काय दृष्टि कहलाती है। तृष्णा द्वारा आसक्ति के कारण सत्कायदृष्टि द्वारा आत्मग्रह एवं आत्मीय ग्रह का उपादान होता है। आत्मसंज्ञा एवं परसंज्ञा होने पर रागद्वेष उत्पन्न होते हैं। पाँचें ही उपादान स्कन्धों में आत्मस्वरूप या आत्मीयस्वरूप से गृहित विषय में उच्छेद् और शाश्वत दर्शन करना 'अन्तर्ग्राहीदृष्टि' है। ये पंचोपादान स्कन्ध शाश्वत रूप है अथवा उच्छेद् को प्राप्त होने वाले हैं। ऐसा देखना ही 'अन्तर्ग्राहीदृष्टि' कही गयी है। जो उस समय दृष्टि, दृष्टिगत्, दृष्टिगहन दृष्टिकान्तर, दृष्टिविसुकायिक, मिथ्यापथ, मिथ्यातत्त्व आदि ही मिथ्या दृष्टि है। जो पाँच उपादान स्कन्ध है। उन्हें अग्र श्रेष्ठ परम् रूप से देखता है। वह भी 'दृष्टिपरामर्श' है। यह दृष्टि परामर्श चार दृष्टिगतसम्प्रयुक्त चित्तोत्पादों से उत्पन्न होता है। धर्मों का जैसा स्वरूप अनित्यादिरूप आकार है, इसका अतिक्रमण कर ये नित्य है, ऐसा आदि से प्रवर्तित परतः स्वीकार करना भी 'दृष्टिपरामर्श' कहलाता है।

3. शीलव्रतोपादान (व्रतों से आसक्ति)–शील आदि का आचरण 'शीलव्रतोपादान' है। संक्षेपतः यह कहा जा सकता है कि सभी दोषों का मूल बीज तृष्णा ही है। अनागत भव में सुख प्राप्ति के लिए शीलाचार आदि व्रतों का अनेक प्रकार से पालना अथवा आचरण करना 'शीलव्रतोपादान' है। शीलव्रतोपादान मार्ग (आर्यअष्टांगिक मार्ग) का प्रतिद्वन्दी है। इसी से उसे दृष्टि से पृथक रखा गया है।

4. आत्मवादोपादान (आत्मा को नित्य मानने में आसक्ति)–आत्म दृष्टि आत्मवाद कहलाता है। आत्मा है। ऐसा मानना आत्मवाद है। इसे नित्यवाद भी कहा जा सकता है। आत्मदृष्टि को अस्मिमान भी कहा गया है। आत्मा में प्रेम रखना आत्मस्नेह है और यही आत्मदृष्टि है। इसी आत्मदृष्टि के कारण जो चित्त की उन्नति होती है वह अस्मिमान है। आत्मदृष्टि और अस्मिमान के कारण ही आत्मवाद होता है क्योंकि आत्मा आसत् है इसलिए आत्मवादोपादान कहा जाता है। इस प्रकार इन चारों उपादानों से संयुक्त विषयालम्बन का अतिशयरूप से ग्रहण करने वाला धर्म विशेष उपादान है।

10. भव (भव अर्थात् पुनर्जन्म को करने वाला कार्य)–उपादान के होने से 'भव' होता है। 'भव' का तात्पर्य है विषयों की प्राप्ति के लिए जीवन का प्रवाह जीव उपादानवश सत्य कर्म करता है, जिसका फल अनागतभव है, 'भवकर्म' है। जिसके कारण जन्म होता है। यह 'भवकर्म' है। जिस अवस्था में जीव कर्म करता है। वह भव है। इस प्रकार उपादान प्रत्यय से भव होता है। पुनर्जन्म को करने वाले कार्य को भव कहते हैं। अतः होना मात्र ही भव है। भव दो प्रकार का कहा गया है– कर्मभव, उत्पत्ति भव।

सभी कर्म जो पुनर्जन्म के कारक (करने वाला) है, कर्मभव कहलाते हैं। इसी से कर्मभव पुनर्जन्मकारों चेतना की संग्रहात्मक संज्ञा है। जिस–जिस उपादान को लेकर सत्त्व जिस–जिस लोक में जन्म पाता है उसे उत्पत्तिभव कहते हैं।

कर्म से ही फल की उत्पत्ति होती है। अतः कर्म को भव कहा गया है। कर्म ही चेतना है। ''चेतनाहं भिक्खवे कम्मं वदामि''[4] और जो अनागतकाल में उत्पाद है वह उत्पत्ति है। जो होना है वह भव है तथा जो उत्पाद, उत्पत्ति या होना है। यही उत्पत्तिभव है। मतलब यह है कि वर्तमान में किये गए कुशलाकुशल कर्मों से अनागत में उत्पन्न होने वाला फल विपाक ही 'उत्पत्ति भव' है। भव वह अवस्था है जब शक्ति के वश में होकर मनुष्य नाना प्रकार के भले–बुरे कार्यों को करता है। कर्मों के कारण मनुष्य को नया जन्म मिलता है। नवीन जन्म के कारण इस वर्तमान जीवन में सम्पादित कार्यकलाप ही होता है। पूर्वजन्म के संस्कार के समान ही भव होता है। दोनों में पर्याप्त सादृश्य है। अतः जिस कर्म से फल का उत्पाद होता है उसे भव कहते हैं। भव की उत्पत्ति में संक्षेपतः उपादान ही मूल कारण कहे जा सकते हैं।

11. जाति– भव के प्रत्यय से जाति होती है। जब भव है तभी तो जाति है। अन्यथा माता के पेट में शयन क्यों होता है। जाति से तात्पर्य है बच्चे का माँ के कोख में आने पर रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पंचस्कन्धों का प्रस्फुरण किया जा सकता है। भव के होने से जाति अर्थात जन्म और जन्म की सन्तति प्रवाह चालू रहता है। यह पुनः प्रतिसन्धि है। मरणान्तर प्रतिसन्धि काल के पंचस्कन्ध जाति है। प्रत्युत्पन्न भव की समीक्षा में जिस अंगों को विज्ञान का नाम देते हैं उसे अनागत भव की समीक्षा में 'जाति' की संज्ञा मिलती है। इस प्रकार भव के प्रत्यय से जाति की उत्पत्ति होती है। सुत्तपिटक के अनुसार माता के गर्भ की स्थिति को जाति कहा गया है। जाति का अभिप्राय माता की कुक्षि में आने पर रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान रूप पंचस्कन्ध का प्रस्फुरण होता है। सामान्यता पूर्व भव में विपाक विज्ञान तथा कर्मजरूपों के उत्पाद को जाति कहते हैं। जाति कर्मभव तथा उत्पत्ति से प्रार्दुभूत होती है। दोनों के अभाव में जाति का होना सर्वथा असम्भव है।[5]

सत्व का माता की कोख में आने पर पंचस्कन्धों का 'प्रस्फुरण' जाति है। पालि टीका में बतलाया गया है। 1. यह जाति विकार सहित स्कन्धों की प्रथम अभिनिवृत्ति है। 2. अट्टकथा तथा विभंगमूलटीका में कहा गया है कि उन–उन भवों में विपाक विज्ञान तथा कर्मजरूपों का उत्पाद ही जाति है। 3. भव के कारण जाति संभव है इसलिए भव पच्चया जाति कहा गया है। यह भविष्य जन्म को मनुष्य की दुःखकृत या सुखकृत फल भोगने की योग्यता की दशा है।[6]

12. जरामरण–भविष्य जन्म में मनुष्य की दशा, जब वह वृद्धता को पाकर मरण को प्राप्त करता है। उत्पन्न स्कन्धों के परिपाक का नाम जरा और नाश का नाम मरण है। जाति (जन्म) होने से जरा, मरण रोग आदि शारीरिक दुःख, मानसिक दुःख चक्र में यह प्राणी असहय दुःखों को सहता है। इस प्रकार वेदनांग तक जरामरण है। प्रत्युत्पन्न भव के चार अंग–नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, अनागत भव के सम्बन्ध में जरामरण कहलाते हैं।

जाति प्रत्यय से जरामरण और जरामरण से शोक परिदेव दुःख, दौर्मनस्य, उपायास आदि दुःख स्कन्ध का प्रादुर्भाव होता है। सात स्कन्धों का परिपाक 'जरा' है और जीर्ण स्कन्धों का विनाश 'मरण' है। स्वजनों एवं सम्पत्ति के नाश से उत्पन्न अनुताप 'शोक' है। 'शोक' से उत्पन्न विलाप 'परिदेव' है। शारीरिक पीड़ा दुःख है अथवा पंच विज्ञान काय का अरूचिकर अनुशय दुःख है। मानसिक वेदना ही दौर्मनस्य है। जाति का फल जरा–मरण है और जरा–मरण से शोक आदि समूह होता है। शोक, परिदेव और उपायास को एक उपमा द्वारा ऐसे समझाया जा सकता है, जैसे किसी कड़ाही में तेल की पाकक्रिया हो, यह पाकक्रिया, शोक सदृश है, उसमें बुलबुले उठना, उफान आना तथा खटकने की आवाज का होना 'परिदेव' है और उस तेल के जल कर खाक होते ही, समाप्त होने की अवस्था 'उपायास' है।

अतः मातृगर्भ से निष्क्रमण के पश्चात् मरणपर्यन्त्काल को जरा तथा उत्पन्न भव से च्युत होने को मरण कहते हैं। जरा भी द्विविधा है– प्रकट जरा तथा प्रतिच्छन्न जरा। जब जरा के लक्षण प्रत्यक्ष हो जाते हैं तो उसे प्रकट जरा और जब तक जरा के लक्षण पूर्णतः दृष्टिगोचर नहीं होते तब तक उसे प्रतिच्छन्न जरा कहते हैं। स्पष्टतः लक्षणोपेत नहीं होने से नाम धर्मों की जरा को भी प्रतिच्छन्न 'जरा' कहते हैं। प्राकृतिक दृश्यमान तत्त्वों (सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि) में भी 'जरा' होती है, किन्तु दुर्ज्ञेयता के कारण अभिज्ञान के लिए बीच में अवकाश नहीं होने से उसे अवीजरा कहते हैं। इसकी स्थिति भी प्रतिच्छन्न जरा की तरह होती है। मरण भी प्रकट रूप में द्विविध है। जीवन के अन्तिम क्षण में विपाक, नाम एवं रूपों के च्युतिकाल को प्रकट मरण कहते हैं और इसके पूर्व की स्थिति को अप्रकट

RRIJM 2015, All Rights Reserved

मरण कहते हैं। जाति के अभाव में किसी भी प्रकार का जरामरण संभव नहीं है। अतः जाति से जरामरण की उत्पत्ति का स्वरूप दृष्टिगत् होता है।

इस प्रकार उपर्युक्त द्वादश कड़ियाँ का प्रत्यय अपने आप स्वतंत्र नहीं है। परन्तु एक दूसरे से प्रत्यय (कारण–हेतु) है। अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं अर्थात् जब अविद्या रहती है। तब संस्कार उत्पन्न होते हैं। यदि अविद्या न हो तो संस्कार भी नहीं होते हैं। ऐसे ही संस्कार के रहने से विज्ञान आदि समस्त स्कन्धों का प्रादुर्भाव होता है। अतः बुद्ध का प्रतीत्यसमुत्पाद वस्तुतः ऐसा ही कार्यकारणवाद है। एक जिसमें कार्य के बाद कारण विलुप्त हो जाता है तात्पर्य यह है कि एक की प्रतीति होने पर दूसरे का उत्पाद होता है। कारण नष्ट होकर कार्य उत्पन्न होता है।

1–2	अविज्जा	– पच्चया संखारा
2–3	संखार	– पच्चया विञ्ञाणं
3–4	विञ्ञाणं	– पच्चया नामरूपं
4–5	नामरूप	– पच्चया सडायतनं
5–6	सडायतन	– पच्चया फस्सो
6–7	फस्स	– पच्चया वेदना
7–8	वेदना	– पच्चया तण्हा
8–9	तण्हा	– पच्चया उपादान
9–10	उपादान	– पच्चया भव
10–11	भव	– पच्चया जाति
जाति	– पच्चया	

जरा–मरण–शोक–परिदेव–दुक्ख– दौमनस्सुपायासा सम्भवन्ति। एवमेतस्सकेवलस्य दुक्खक्खन्धस्स समुदयो होति। 'अयं वुच्चति भिक्खवेपटिच्चसमुप्पा' है।[7]

इस प्रकार द्वादश निदानो के द्वारा प्रतीत्यसमुत्पाद का अत्यन्त गंभीर विवेचन किया है। इसके द्वारा तथागत् ने दुःखसमुदय के रहस्य का उद्घाटन किया है।

इस द्वादश निदानों में 'पच्चय' शब्द बार–बार आया है। अतः इसकी व्याख्या जरूरी है क्योंकि उदाहरण के लिये अविद्या संस्कारों का प्रत्यय है, किंतु किन संस्कारों का किस प्रकार प्रत्यय है। इसे हम इस प्रकार समझ सकते हैं।

पच्चय– पच्चय (प्रत्ययों) की संख्या चौबीस है।

1 हेतु प्रत्यय 2 आलम्बन प्रत्यय 3 अधिपतिप्रत्यय
4 अनन्तर प्रत्यय 5 समन्तर प्रत्यय 6 सहजात प्रत्यय
7 अन्योन्य प्रत्यय 8 निश्रय प्रत्यय 9उपनिश्रय प्रत्यय
10 पुरेजात प्रत्यय 11 पश्चातजात प्रत्यय 12आसेवन प्रत्यय
13 कर्म प्रत्यय 14 विपाक प्रत्यय 15 आहार प्रत्यय
16 इन्द्रिय प्रत्यय 17 ध्यान प्रत्यय 18 मार्ग प्रत्यय
19 सम्प्रयुक्त प्रत्यय 20 विप्रयुक्त प्रत्यय 21 अस्ति प्रत्यय
22 नास्ति प्रत्यय 23 विगत प्रत्यय
24अविगत प्रत्यय

प्रत्यय शब्द से यहाँ सम्बन्ध अर्थ ही अभिप्रेत है। अट्ठकथा में प्रत्यय के अर्थ पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है कि जो धर्म जिस धर्म की अपेक्षा कर उत्पन्न होता है, वह उसका प्रत्यवर्ती कहा जाता है। ''किसी धर्म की अपेक्षा से ही जो स्थित होता है, उसका बिना परित्याग किए जो विद्यमान रहता है, वह प्रत्यय है।'' लक्षण की दृष्टि से यह उपकारक लक्षण वाला होता है। जब धर्म जिस धर्म की स्थिति या उत्पत्ति में उपकारक है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। वस्तुतः प्रत्यय, हेतु, कारक निदान, संभव तथा प्रभव शब्द अर्थतः एक है। केवल व्यंजन में ही इनकी पृथकता देखी जाती है। इस दृष्टि से उपकारक लक्षण–सम्पन्न धर्म का नाम 'प्रत्यय' हो सकता है।[8]

जब कभी सम्बन्ध की चर्चा देखी जाती है, तो उस प्रसंग में तीन बातें अवश्य उपस्थित रहती हैं। प्रथमतः वह व्यक्ति जिसका सम्बन्ध जिस किसी से होता है। पुनः वह व्यक्ति जिसके साथ उसका सम्बन्ध होता है। तीसरी बात इन दोनों के मध्य में स्थित सम्बन्ध हैं। इनमें प्रत्यय धर्म वह है, जिसका सम्बन्ध किसी से होता है। प्रत्योत्पन्न धर्म वह है, जिससे उसका सम्बन्ध होता है तथा दोनों के मध्य स्थित सम्बन्ध ही प्रत्यय है। उदाहरणस्वरूप पिता–पुत्र को लेकर कहा जा सकता है कि इस सम्बन्ध–निरूपण क्रम में पिता वह है, जिसका सम्बन्ध होता है, पुत्र वह है जिससे उसका सम्बन्ध होता है, तथा इन दोनों के मध्य सम्बन्ध नामक एक वस्तु भी विद्यमान है, जिसे पुत्रभाव या पिताभाव कहा जा सकता है। इन्हीं तीन को परिभाषित शब्दावली को प्रत्ययधर्म, प्रत्ययोत्पन्न धर्म एवं प्रत्यय कहा जा सकता है। अतः पिता–पुत्र के उदाहरण में पिता को प्रत्यय धर्म, पुत्र को प्रत्ययोत्पना धर्म एवं दोनों के मध्य स्थित सम्बन्ध को प्रत्यय कहते हैं।

अतः जिस प्रकार अविद्या अनेक प्रत्ययों से संस्कारों का प्रत्यय होती है, वैसे ही संस्कार भी विज्ञान के प्रत्यय होते हैं और ऐसे ही क्रमशः शेष भी शेष के प्रत्यय होते हैं और भवचक्र चलता रहता है। च्युति के पश्चात, प्रतिसन्धि और प्रतिसन्धि के बाद पुनः च्युति का क्रम इस समय तक जारी रहता है, जब तक कि सभी दुःखों का निरोध (निर्वाण) प्राप्त नहीं हो जाता।

पुनः इस प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अंगों को तीन कालों, चार संक्षेपों तीन सन्धियों और बीस आकारों में भी विभाजित किया गया है। जैसे–

बारह अंग	*तीन काल*	*4 संक्षेप और 20 आकार*	तीन सन्धियाँ
1. अविद्या 2. संस्कार	अतीतकाल (भूत) (पूर्व का कारण) (1–2)	**अतीत कर्मभव** 1. अविधा 2. तृष्णा 3. उपादान कर्मभव 4. भव 5. संस्कार	**प्रथम सन्धि**
3. विज्ञान 4. नामरूप 5. षडायतन 6. स्पर्श 7. वेदना 8. तृष्णा 9. उपादान 10. भव	**(वर्तमान का कार्य)** (3–10) प्रत्युत्पन्न या वर्तमान काल (वर्तमान)	**(2)प्रत्युत्पन्न विपाकभव** 6. विज्ञान 7. नामरूप 8. षडायतन 9. स्पर्श 10. वेदना **(3)प्रत्युत्पन्न कर्मभव** 11. अविज्ञा 12. तृष्णा 13. उपादान 14. भव 15. संस्कार	**द्वितीय सन्धि**
11. जाति 12. जरा मरण	अनागतकाल (भविष्य) (11–12)	(4) अनागतविपाक भव 16. विज्ञान 17. नामरूप जाति 18. षडायतन	**तृतीय सन्धि**

		जरा 19. स्पर्श 20. वेदना	

इस प्रकार बुद्ध धर्म के अनुसार प्रतीत्य समुत्पाद की कारणता का यह चक्र अनन्त तथा अनादि है। यह तीनों कालों (भूत, वर्तमान, भविष्य) और सब विषयों पर चलता है, समस्त संस्कृत धर्म रूप, चित्त, चैतसिक या चित्तविप्रयुक्त हों, हेतु प्रत्ययों के कारण उत्पन्न होते हैं।

अतः बारह अंगों की व्याख्या में प्रथम दो अंगों (अविधा एवं संस्कार) का संबंध अतीत जन्म से है। उसके अनन्तर आठ निदानों (3–10) का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है, तथा अन्तिम दो भविष्य जीवन से है तथा अन्तिम जीवन में अविद्या के कारण सत्व ने भले बुरे कर्म किए और संस्कार की ये कड़िया अतीत भव की मानी जाती है। उक्त कर्मों के फलस्वरूप सत्त्व जन्म लेता है। जिसे विज्ञान कहते हैं।

विज्ञान के बाद 'नामरूप' और 'षडायतन' होते हैं। पुनः स्पर्श और इसके प्रत्यय से वेदना है। अतः विज्ञान नामरूप षडायतन स्पर्श और वेदना ये पाँच प्रत्युत्पन्न उत्पत्ति भव कहलाते हैं।

फिर वेदना के कारण तृष्णा होती है। तृष्णा के बढ़ने से उपादान और उपादान के कारण ही कुशलाकुशल कर्म होते हैं। जिसे 'भव' की संज्ञा दी गई है। इस प्रकार तृष्णा, उपादान भव, प्रत्युत्पन्न कर्मभव कहे जाते हैं। जब ये कर्म विपाक उत्पन्न होते हें तो सत्त्व जन्म ग्रहण करता है। जिसे जाति की संज्ञा से पुकारते हैं। इसके बाद जरा एवं मरण होता है अतः जाति एवं जरामरण अनागत उत्पत्तिभव है।

इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद में ये चार भाग जिसे संक्षेप कहा गया है। यह तीन काल और तीन सन्धियां हैं। अतीत कर्मभव में यद्यपि अविद्या और संस्कार ये दो निदान कहे जाते हैं। परंतु वास्तव में तृष्णा, उपादान, भव का भी समावेश हो जाता है।

विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना 'प्रत्युत्पन्न विपाक भव हैं। अर्थात् जिसकी उत्पत्ति भव जन्मों में किए गए हैं।

तृष्णा उपादान और भव को 'प्रत्युत्पन्न कर्मभव' कहा गया है। जो दूसरे भविष्य जन्म के कारण भूत हैं। परन्तु इनमें भी अविद्या और संस्कार का समावेश है। जाति और जरामरण अनागतविपाक भव है। परन्तु इनमें भी विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना का समावेश है। यही भवचक्र कहलाता है।

तीन सन्धियां हैं– 1. अतीत कर्मभव से वर्तमान विपाक की 2. वर्तमान विपाकभव से वर्तमान कर्मभव की और 3. वर्तमान कर्मभव से अनागत विपाक भव की। बीस आकार भी तब हो जाते हैं। ऐसे ही अनागत विपाक भव में विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श और वेदना को भी जोड़ते हैं।

अतः इस प्रकार किन कारणों या प्रत्ययों से दुःख की उत्पत्ति होती है। प्रतीत्यसमुत्पाद इसी तथ्य का निरूपण करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का प्रधान उद्देश्य दुःख का सम्यक् निर्वचन एवं निरूपण अथवा कार्य–कारण नियम का प्रतिपादन है। यद्यपि इसमें मतैक्य नहीं है। किंतु यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कार्य कारण नियम के सम्यक् प्रतिपादन के द्वारा दुःख की द्वैत धर्मिता का संचारण होता है। एक ओर दुःख का अर्थ दुःखात्मक अनुभूति दूसरी ओर हेतुप्रत्यय–संभूत अनित्य जगत्। इसी प्रकार प्रतीत्य समुत्पाद भी दो रूपों से दृष्टिगत् होता है। जिसके एक पक्ष में– दुःख की सापेक्षकारणता निर्वाचित है। दूसरे पक्ष में पुर्नजन्म एवं दुःखानुभव है। जिसमें प्रथम का एक विशिष्ट उपयोग विनियोजित है। पर्यालोचनतः यह अवधेय हैं कि प्रतीत्य समुत्पाद दुःखमय संसार को परमार्थ की भूमि पर निरूपित कर व्यवहार के अन्तर्गत कार्यप्रक्रिया का सम्यक् संकेत करता है।

दुःख का प्रथम कारण अविद्या है और प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्या के स्वरूप की मीमांसा कर परमार्थ का संकेत करता है। अविद्या–विघटित जगत् के अभ्यन्तर ही कार्य कारण नियम की प्रक्रिया विद्यमान रहती है। प्रतीत्यसमुत्पाद अविद्या विघटित जीवन के भीतर दुःख के चक्राकार चैतसिक रूप का वाख्यान करता है।

इसके होने पर यह होता है– ''इमस्मिंसति इदं होति'' इसके उत्पाद से यह होता है ''इमस्स उप्पादा इदं उप्पजति'' इसके न होने पर यह नहीं होता है।

''इमस्मि असति इदं न होति'' इसके न होने से यह नहीं होता ''इमस्स निरोधा इदं निरूजझति'' का सिद्धांत ही प्रतीत्य समुत्पाद है। इस सिद्धांत से सांसारिक वस्तुओं की परतंत्रता तथा सापेक्षता सिद्ध होती है। अर्थात् सत्ता परतन्त्रय ही प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिप्रेत अर्थ है किंतु सत्ता परतन्त्रय के सिद्धांत को कार्य कारण – नियम के रूप से संचालित करने की अपेक्षा कारित्र्य परतंत्रय का नियम मानना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। क्योंकि प्रतीत्य समुत्पाद से द्विविध संकेत उपलब्ध होता है।[9]

रीज् डेविड्स के अनुसार बौद्धदर्शन के इतिहास में अंतिम भाग में कुछ ऐसा पाया जाता है। जिसमें प्रतीत्य समुत्पाद के प्रति पूरी आस्था नहीं रह पाती है। कुछ स्थलों पर इस नियम की पूरी उपेक्षा भी की गई है। परंतु स्वयं बुद्ध ने इसके महत्त्व को कभी कम नहीं होने दिया है।[10]

प्रतीत्य समुत्पाद का महत्त्व–बुद्ध इस प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धांत के आधार पर ही दुःखों के कारण तथा उसके नाम की संभावना की खोज करते हैं। इसलिए बौद्धदर्शन में इसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण सिद्धांत माना जाता है। स्वयं बुद्ध इसका अत्यंत मान करते थे। वे इसे धर्म कहते थे। वे कहते थे जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है और वह धर्म को देखता है। जो धर्म को देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है। बाद के बौद्ध विचारक नार्गाजुन बुद्ध की वंदना करते हैं। जिन्होंने प्रपंच को समाप्त कर आनंद देने वाले इस सिद्धांत को स्थापित किया है।

इस सिद्धांत के महत्त्व का एक कारण यह भी है कि बौद्ध दर्शन के अन्य सिद्धांत यथा कर्म का सिद्धांत, क्षणिकवाद, अनात्मवाद, अनित्यक्रियावाद आदि इसी पर आधारित है। इसलिए इसे बौद्धदर्शन का आधार स्तंभ कहा जाता है।

प्रतीत्यसमुत्पाद के ''अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण'' इन बारह अंगों को तीन भागों में विभाजित किया गया है। अविद्या और संस्कार इन दोनों का सम्बन्ध अतीत जन्म से है। जाति और जरा–मरण इनका सम्बन्ध अनागत जन्म से है। अतीत और अनागत भव चक्र के मध्य विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान और भव इन आठ अंगों का सम्बन्ध प्रत्युत्पन्न भव से है। तात्पर्य यह है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के अतीत भव और अनागत भव के जो हेतु हैं उनके कारण जन्म ग्रहण तथा मृत्यु हुआ करती है। अविद्या पुनर्जन्म की क्लेश दशा का द्योतक है। इसलिए अविद्या से सभी प्रकार के क्लेश उत्पन्न होने का यह अभिप्राय प्रदर्शित होता है और अविद्या के निरोध होने से सबका निरोध हो जाता है। 'दीघ निकाय' में[11] यथाभूत विदित्वा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने लिखा है–

''अविज्जासमुदया वेदनासमुदयो ति तण्हासमुदया, कम्मसमुदया, फस्ससमुदया, वेदनासमुदयो ति पच्चयसमुदयट्टेन वेदनाक्खन्धस्स उदयं पस्सति''।।[12]

इसी प्रकार संस्कार पुनर्जन्म की कर्मावस्था का द्योतक है। अर्थात् पुनर्भव की सन्तति पुण्य व अपुण्य आदि कर्म करती है, जिसके कारण पुण्य आदि कर्मावस्था को संस्कार माना गया है। इसके तत्पश्चात् विज्ञान को पटिसन्धि स्कन्ध कहा गया है।

RRIJM 2015, All Rights Reserved

पटिसन्धि क्षण–क्षण में होती है और पंचस्कन्धजनित विज्ञान का समुदय हो जाता है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद के विवेचन से यह निश्चित है कि कर्म एवं कर्मफल के कारण तृष्णा है। तृष्णा से उपादान होता है और पुनः–पुनः जन्म ग्रहण होता रहता है। सापेक्ष कारणतावाद की सैद्धान्तिक प्रक्रिया से यह निश्चय है कि अविधा क्लेश का मूल कारण है। मज्झिम निकाय के एक सूत्र में कहा गया है कि अविद्या का कारण आसव है।

''आसव समुदया अविद्या समुदयो होति'' ।[13]

इस प्रकार 'मज्झिम निकाय' में कहा गया है कि आसव का अर्थ चित्त विकार है। अविद्या आसव, काम आसव, भव आसव, टिट्ठिआसव है, जिससे संसार में अस्तित्त्व ग्रहण होता है, जिसका कारण कर्म ही है। इसलिये कर्म और पुनर्भव होता है। कर्म कुछ ऐसे होते हैं, जिनके परिणाम की घोषणा कालान्तर में होती है। इसलिए पुनर्भव कई जन्मों तक होता रहता है।

अविद्या और तृष्णा ये सभी जन्म की पूर्व कोटि से सम्बन्धित हैं। इसलिए अनागत और प्रति उत्पन्न अवस्था में जन्म ग्रहण करता हुआ व्यक्ति सुगति और दुर्गति के चक्र में भ्रमण करता रहता है। 'अंगुत्तर निकाय' में यह कहा गया है कि अविद्या की पूर्वकोटि नहीं जानी जाती, यह नहीं कह सकते हैं कि इसके पूर्व अविद्या थी और इसके पश्चात् हुई। केवल इतना ही कह सकते हैं कि इस प्रत्यय के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। अर्थात् कर्म व क्लेश के कारण अविद्या उत्पन्न होती है। पुनः 'अंगुत्तर निकाय' में भगवान् बुद्ध कहते हैं कि भवतृष्णा की पूर्वकोटि नहीं जानी जाती, केवल इतना ही कह सकते हैं कि इस प्रत्यय के कारण भव तृष्णा होती है।

''अविज्जा, भिक्खवे, पुब्ङ्गमा अकुसलानं धम्मानं समापत्तिया, अन्वदेव अहिरिकं अनोत्तप्पं। अविज्जागतस्य, भिक्खवे, अविछसुनो मिच्छादिट्ठि पहोति, मिच्छादिट्टिकस्स मिच्छासङ्कप्पो पहोति।''[14]

'मजिझम निकाय' व 'अंगुत्तर निकाय' के उपर्युक्त विवेचनों से यह सिद्ध हो जाता है कि क्लेश के कारण अविद्या और अविद्या के कारण भव होता है। यह परम्परा सतत् प्रवाहित होती रहती है। पुनर्जन्म के विवेचनों में प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें यह निश्चित हो जाता है कि पुनर्जन्म के कारणों में क्लेश प्रमुख कारण है, जिसके फलस्वरूप अविद्या उत्पन्न होती है, और यह अविद्या तृष्णा को जन्म देती है, जिससे जन्म ग्रहण बार–बार इस लोक में होता रहता है।

स्थविरवादी बौद्ध परम्परा के सैद्धान्तिक विवेचन से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध हो जाता है कि जन्म ग्रहण की परम्परा कभी अवरूद्ध नहीं होती; किन्तु सतत् प्रवाह रूप में जन्म ग्रहण का कारण परम्परा चलती है, जिसका प्रमाण भगवान् बुद्ध के पूर्व निवास स्मरण से सिद्ध हो जाता था। 'पुब्बे निवासानुसति' का सिद्ध विवेचन पालि त्रिपिटकों तथा 'विसुद्धिमग्ग' में प्रतिपादित है। 'दीघ निकाय' की 'सुमंगलविलासिनी अट्टकथा' में ''विपस्सनाञाण, मनोमञांणं इद्विविघञांणं, दिब्बसोत्ञांणं, चेतोपरियञांणं, पुब्बे निवासञांणं, दिब्ब चक्खुवसेन निप्फन्नं'' इत्यादि उदाहरणों से पूर्व निवास का ज्ञान हो जाता है, जिसके आधार पर जन्म जन्मांतरों की संतति प्रवाह सतत् प्रवाहित होती रहती है।[15]

पुनः 'दीघ निकाय' में 'पुब्बेनिवासानुसति' तथा 'परचित विञ्ञआण' अर्थात् दूसरे के चित्त को जान लेना ये सभी साधना के बल पर हुआ करता था, ऐसा उल्लेख है। इस प्रकार पालि त्रिपिटक पर लिखी हुई 'अट्ठकथाओं' में पुनर्जन्म का विवेचन सर्वत्र किया गया है।

बौद्ध कर्मवाद का विवेचन पुनर्जन्म के प्रतिपादन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। कर्म की व्याख्या सर्वप्रथम करते समय कायकर्म व वाक् कर्म इन दो प्रकार के कर्मों का विभाजन किया गया है। काय और वाक् इन दोनों कर्मों का सम्बन्ध परस्पर स्पष्ट है। कर्म भी अकुसल व कुसल रूप में विभाजित है, जिनके कारण विपाक होता है और विपाक फलस्वरूप पुनर्जन्म तथा आपायगति, सुगति, दुर्गति इत्यादि विपाक भी 'पालि त्रिपिटक' में सर्वत्र उल्लिखित है। कर्मफल की व्याख्या करने लगते हैं, तो विभिन्न प्रकार के नियत एवं अनियत विपाक की चिन्ता होने लगती है, फलस्वरूप कर्मवाद स्पष्ट हो जाता है, जिसके कारण पुनर्जन्म निश्चित होता है। ऐसा थेरवादी बौद्धमत का विवेचन है। इन उपर्युक्त तथ्यों से कर्मवाद और पुनर्जन्म ये दोनों विषय परस्पर सम्बन्धित है तथा पुनर्जन्म का आश्रय कर्म ही है, यह सिद्ध हो जाता है।

भगवान् बुद्ध स्वयं भिन्न–भिन्न योनियों में जन्म ग्रहण करते हैं और बोधिसत्त्व के रूप में भिन्न–भिन्न प्रकार के कर्मों का सम्पादन करते हुए फल का उपभोग करते हैं। सिद्धार्थ गौतम के रूप में प्रादुर्भाव होने से पूर्व अतीत जन्म में भगवान् बुद्ध के पूर्ववर्ती छः बुद्ध की जीवनी का वर्णन है। दीघ निकाय के महापदान सूत्र में इसका उल्लेख है। पूर्ववर्ती बुद्धों के नाम विपस्सि, सिकिख, बेसबु, भद्रकल्प कावगन्धव और कोणागमन के रूप में छः बुद्ध हुए। दीघ निकाय के दूसरे भाग में इनकी जीवनी का संक्षिप्त रूप में वर्णन है अतीत बुद्धों की कल्पना से यह सिद्ध हो जाता है कि पुनर्जन्म नियत भाव से होता ही है। इसी प्रकार गौतम बुद्ध के अनागत जन्म की एक कथा है, जिसमें मैत्रेय बुद्ध के रूप में अनागत जन्म में जन्म ग्रहण करते हैं। अनागत बुद्ध की कथाओं से यह निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि जन्म जन्मांतरों में कुशल और अकुशल कर्मों के विपाक से कुशल और अकुशल योनियाँ ग्रहण होती रहती हैं।[16]

'दीघ निकाय' के लक्षणसुत्त में महापुरुष के लक्षणों का विवरण है। इसी सुत्त में यह भी निर्देश प्राप्त होता है कि किस–किस कर्म विपाक से किन–किन शुभ लक्षणों की प्राप्ति होती है। लक्षणसुत्त के अध्ययन से भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त प्रतिष्ठित है,[17] ऐसा सिद्ध होता है। न केवल दीघ निकाय में, किन्तु 'मज्झिम निकाय' में भी कई प्रकार के ऐसे सुत्त हैं, जिनसे पुनर्जन्म सिद्ध हो जाता है। महासीहनाद सुत्त[18] में भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपनी पूर्व तपस्याओं का वर्णन किया है। सारिपुत्र यह मेरे जीवन का कठोर आचरण था जो दुष्कर तपस्या के कारण उत्तम मनुष्य के धर्म को नहीं प्राप्त कर सका। मज्झिम निकाय के अन्य कई सुत्तों में पुनर्जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। जिसमें पुनर्जन्म का विवेचन स्पष्ट हो जाता है।

'अभिधर्मकोश' में स्पष्ट बताया गया है कि अविद्यायुक्त स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है, अविद्या युक्त वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है। यहाँ दुख के कारण को इच्छा, शांत (सुख) काम, तृष्णा, छन्द (संकल्प), स्पर्श और संज्ञा कहा गया है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद के विकास की पहली अवस्था है। दूसरी अवस्था में विभिन्न दुख के निदानों को जोड़कर कारण श्रृंखलायें प्रस्तुत की गयी हैं। प्रतीत्य समुत्पाद की तीसरी अवस्था उसके द्वादश निदानों की श्रृंखला के रूप में परिनिष्ठत होने पर सम्पन्न हुई है। अतः अविद्या के प्रत्यय से संस्कार (चेतना) की उत्पत्ति, संस्कार (चेतना) के प्रत्यय से विज्ञान की उत्पत्ति विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप की उत्पत्ति, नाम और रूप के प्रत्यय से छह आयतनों की उत्पत्ति, छह आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श की उत्पत्ति। स्पर्श के प्रत्यय से वेदना की उत्पत्ति, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा की उत्पत्ति, तृष्णा के प्रत्यय से भव की उत्पत्ति, भव के प्रत्यय से जन्म की उत्पत्ति होती है, जन्म के प्रत्यय से जरा–मरण, दुख, शोक आदि की उत्पत्ति होती है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद के निदानों की व्याख्या है। इस प्रकार प्रतीत्यसमुत्पाद की कार्य कारण परम्परा में 12 कड़ियाँ हैं, जो एक

RRIJM 2015, All Rights Reserved

दूसरे से प्रत्ययों के आधार पर जुड़ी हैं। जिसके आश्रय से वे पैदा होती है और निरूद्ध होती रहती है। पट्ठान में इस प्रकार के 24 प्रत्ययों का विवेचन है। 'महाभारत में भी प्रतीत्यसमुत्पाद की इसी अवस्था का उल्लेख है।[19]

बुद्ध का दर्शन अपने मौलिक रूप अर्थात् प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में भारी क्रान्तिकारी था। उन्होंने जगत् समाज और मनुष्य को परिवर्तन के अनुसार अपने व्यवहार एवं अपने समाज के परिवर्तन के लिये हर वक्त तैयार रहने की शिक्षा देता था, फिर भी क्रान्तिकारी दर्शन ने अपने भीतर के उन तत्त्वों को हटाया नहीं था जो समाज की प्रगति को रोकने का काम करते थे। बुद्ध ने आत्मा को नित्य नहीं माना तो भी दूसरे रूप में परलोक और पुनर्जन्म को माना था। पुनर्जन्म के दार्शनिक पहलू को दृढ़ता प्रदान करते हुए चित्त–सन्तति की प्रतिसन्धि के माध्यम से पुर्नजन्मों के चलते रहने को बताया। आवगमन में धनी, निर्धन आदि के भेद में कर्म को कारण माना। महापंडित राहुल सांकृत्यायन जी कहते हैं ''इस प्रकार भगवान् बुद्ध के प्रतीत्य समुत्पाद को देखने पर जहां तत्काल प्रभुत्त्व वर्ग भयभीत हो उठता था, वहां प्रतिसंधि और कर्म का सिद्धान्त उन्हें निश्चिन्त कर देता था। यही वजह थी जो कि भगवान् बुद्ध के झंडे के नीचे हम बड़े–बड़े राजाओं, सम्राटों और सेठ साहुकारों को आते देखते हैं और भारत के बाहर लंका, चीन, जापान, तिब्बत में तो उनके धर्म को फैलाने में राजा सबसे पहले आगे बढ़े। वह समझते थे कि यह धर्म सामाजिक विद्रोह के लिए नहीं, बल्कि सामाजिक स्थित को स्थापित रखने में बहुत सहायक साबित होगा। जातियों, देशों की सीमाओं को तोड़कर भगवान् बुद्ध के विचारों ने राज्य विस्तार करने में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपेण भारी मद्द की। समाज में आर्थिक विषमता को अक्षुण्ण रखते हुए भगवान् बुद्ध ने वर्ण व्यवस्था, जातीय ऊंच–नीच के भाव को हटाना चाहा था जिससे वास्तविक विषमता तो नहीं हटी किन्तु निम्न वर्ग का सद्भाव जरूर बौद्ध धर्म की ओर आकर्षित हुआ। वर्ग–दृष्टि से देखने पर बौद्ध धर्म शासक वर्ग के एजेंट की मध्यस्थता जैसा था। वर्ग के मौलिक स्वार्थ को बिना हटाये न्याय का पक्षपाती दिखलाना चाहता था।''[20]

[1]देखें सर्वास्तिवादी सिद्धांत के अनुसार
2 देखें मि. प्र.
[3]देखें वि. म.
[4]देखें अं. नि.
[5]देखें सु. पि.
6 देखें विभंगमूल टीका व उसकी अट्ठकथा
7 वही
8 वही
9 वही
10 See. The History and Literature of Buddhism, Rhys Davids.
11 दी.नि. 1/16
12 पटि.म. 61–62
13 म.नि. 1/54
[14]अं.नि. 4–5/273
[15]वही
[16]सु. वि., दी.नि. अट्ठकथा
[17]दी.नि. महापदान सुत्त
[18]दी.नि. लक्षण सुत्त
[19]दी.नि. महासींहनाद सुत्त, पृ. 96–116
[20]महाभारत 2/8, शान्तिपर्व, पृ. 325–34
[21]बौद्ध दर्शन, पृ. 41–42

मूल ग्रंथ व अट्ठकथा साहित्य

सुत्त निपात

दीघ निकाय, पालि

दीघ निकाय

मज्झिम निकाय, पालि

मज्झिम निकाय

अंगुत्तर निकाय, पालि

संयुक्त निकाय

सुत्त निपात

पटि सम्भिदामग्ग

विभंग

मिलिन्द पञ्हो

विसुद्धिमग्ग

: Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

:Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute,

: बौद्ध भारतीय प्रकाशन, हिन्दी अनुवाद सहित अनुवादक स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी, 2009। प्रधान संशोधक, भिक्षु जगदीश कश्यप, नव नालन्दा प्रकाशन, 1958।

भिक्षु राहुल सांकृत्यान, नव नालन्दा महाविहार, पटना। भिक्षु जगदीश कश्यप (एम. ए.), भारतीय बौद्ध शिक्षा परिषद, लखनऊ 1979।

Edt. T.W. Rhys Davids & J.E. Carpenten, 3 Vol. PTS London, 1890-1911. Tr. T.W. & C.A.F. Rhys Davids; *The Dialogues of the Buddha;* 3 Vols. 1899, 1910 & 1957 respectively (reprints), London, PTS. Also translated by M. Walshe, Thus Have I Heard : The long Discourses of the Buddha, London Wisdom Publicatins, 1987.

:Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

:बौद्ध भारतीय प्रकाशन, स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी। भिक्षु राहुल सांकृत्यान, नव नालन्दा महाविहार, पटना। प्रधान संशोधक, भिक्षु जगदीश कश्यप, नव नालन्दा प्रकाशन, 1958। Ed. V. Trenckner & R. Chalmers, 3 Vols. London : PTS, 1888-1896. Tr. I.B. Horner; the Collection of middle Length Sayings, 3 Vols, London : PTS, 1954-1959 (Reprints). Also tr. R. Chalmers, Furher Dialogues of th Buddha, 2 Vols, London. Also Tr. Bhikkhu Nanamoli and Bhikkhu Bodhi, the Middle lenth Discourse of Buddha, Bostan, Mass : Wisdom Publication 1995.

:Dhamma Giri, Igatpuri, near Mumbai, India, the Vipassana Research Institute.

:सं. व अनु. नव नालन्दा प्रकाशन, भिक्खु काश्यप जगदीश, नालन्दा 1958।
बौद्ध भारतीय प्रकाशन, स्वामी द्वारका दास शास्त्री, वारणासी।

Ed. R. Morris & E. Hardy, 5 Vols. London : PTS, 1885-1900. The Translated references are from *The Book of the Gradual Sayings,* tr. F.L. Woodward: Vols. I, II & V; E.M. Hare: Vols. III & IV, London : PTS, 1955-1970 (Reprints).

:Eds. D. Andersen & H. Smith, reprint, London : PTS, 1984. Tr. K.R. Norman; *The Group of Discourses,* With alternative Tr. By I.B. Horner & W Rahula, London PTS, 1984

:जगदीश कश्यप, नव नालन्दा प्रकाशन, 1959।

Ed. A.C. Taylor: London : PTS, 2 Vols, 1905, 1907. Tr. Bhikkhu Nanamoli (With an intro. By A.K. Warder). *The Path of Discrimination,* London : PTS, 1982

:नव नालन्दा महाविहार, भिक्षु जगदीश कश्यप, पटना, 1959। बौद्ध भारतीय प्रकाशन, सं. स्वामी द्वारका दास शास्त्री, (देवनागरी) वाराणसी, 1979।

kreference are from ed. V. Trenckner, *Milindapanha,* London, Williams and Norgate 1880: Tr. T.W. Rhys Davids, *the questions of king Milinda*, SBE, Vols. 35&36, reprint, Delhi : Motilal Banarsidas 1982 (first published by Oxford University press, 1890). king Milinda, Tr. From Pali by T.W. Rhys Davids Oxford at the Claerendon Press 1890. The Sacred Book of the East Tr. By Various Oriental Scholors and edited by F. Max Muller, Vol. 35 Oxford, at the Claerendon Press 1890.

:Ed. C.A.F. Rhys Davids, London : PTS, 1904. Tr. U. Thittila, *the Book of Analaysis,* London : PTS, 1969.

:वाराणसी, संस्कृत विश्वविद्यालय, आचार्य बुद्ध घोष, प्रधान सं. पं. दर्शनाथ शुक्ल, वाराणसी, 1969। Ed. H.C. Warren and rev. D. Kosambi, *The Visuddhimagga of Buddhagosacariya,* Cambridge, Mass : Harvard Oriental Series, Vol. 41, 1951. Tr. Pe Maung Tin, *The Path of Purity, being a Translation of Buddhaghosa's Visuddhimagga, 3 Vols,* London, 1922-31. Tr. Bhikkhu

Nanamoli, *the path of purification (Visuddhimagga), Colombo, 1956.*
: नव नलान्दा महाविहार, तिवारी प्रो.
महेश, तात्या, डॉ. नथ मल, नालंदा। भिक्षु जगदीश कश्यप नालंदा संस्करण, नालंदा 1958। Eds. T.W. Rhys Davids, J.E. Carpentier & W Stede, *Sumarigalavilasini,* Buddhagosa's commentary on the *Digha Nikaya,* 3 Vols, London : PTS, 1886-1932

:Eds. J.H. Woods, D. Kosambi
& I.B. Horenr, *the paparicasudani,* Buddhaghosa's Commentary on the Majjhima Nikaya, 5 Vols, London : PTS, 1922-38
:Eds. H. Walleser & H. Kopp, *the manorathapurani,* Budhaghosa's commentary on the Ariguttara Nikaya, 5 Vols, London : PTS, 1956-1973

:Ed. C.V. Joshi 3 Vols, London: PTS, 1933-47
:Ed. H. Smith, the **परमत्थज्योतिका** Paramathajotika II, the Sutta-Nipata commentary, London : PTS 1916-18
:चित्रशाला प्रेस, पुना।
:प्रकाशक एवं मुद्रक, गीता प्रेस, गोरखपुर 273005, गोविन्द भवन कार्यालय, कोलकाता का संस्थान। चिद्धानानन्दा गिरिजा भाषा ओका सहित गंगा विष्णु श्री कृष्णदास, सन् 1967
Shri Swami Siva Nanda, A Divine life Society Publication, Tihari Gadrhwal, UP, Himalaya, India.
चिद्धानानन्दा गिरिजा, भाषा टीका सहित गंगा, विष्णु, श्रीकृष्णदास, 1967।

अन्य साहित्य

:दर्शन दिग्दर्शन, किताब महल, प्रयाग 1942।
बौद्ध दर्शन, किताब महल, थानहिल रोड, इलाहाबाद, 1943। 'पालि साहित्य का इतिहास' हिन्दी भवन, महात्मा गांधी मार्ग, लखनऊ 1973।
बुद्धचर्या, सम्यक् प्रकाशन, दिल्ली, 2008।
बुद्धचर्या, सम्यक् प्रकाशन, दिल्ली, 2008।
बौद्ध धर्म दर्शन,राष्ट्रभाषा परिषद्, बिहार, पटना 1971, बौद्ध धर्म दर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना 1956
:बौद्ध दर्शन मीमांसा, तृतीय संस्करण, चौखम्बा विद्या भवन, दिल्ली, 1978
:बौद्ध धर्म के 2500 वर्ष, प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय दिल्ली 1997
: A Buddhist Manual, Manual Psychological Ethics of the forth century B.C.
The History of Literature of Buddhism, Varanasi, reprint, 1975.
A Historical Sketch, London, Methuen, 1934, First Indian print, Delhi 1978.
Buddhist India, New York : G.P. Putnam's Sons, 1903.
"The Early History of the Buddhists," E.J. Rapson (ed), The Cambridge History of India Vol. 1, Cambridge, 1922, 171-197.
Questions of King Milinda, Second Book of the east 1965, Motilal Banarsidas.
: A Manual of Buddhist Philosophy, Kagen Paul and Co London 1923
: Buddisht philosophy, Oxford Buddhist Phiosophy in Indian and gylon Oxford 1923,
पालि हिन्दी कोश : संपादक भदंत आनन्द कौशल्यायन, नागपुर : सुगत प्रकाशन कम्पनी, 1974
Dictionary of Pali Proper Names : 2 Vols, ed. D.P. Malalasekera, Reprint, New Delhi : Oriental Reprint, 1983.
Encyclopaedia of Buddhism : First 5½ Vols, Colombo: Government of Ceylon, 1961-1996
English-Pali Dictionary : A.P. Buddhadatta Pali text Society 2002, Printed in Great Britain by AntonyRouse ltd. Chippenhan, wiltshiro